

श्री राम उवाच-12

# ऐसे जगाँ ज्ञान चेतना

परम श्रद्धेय आचार्य-प्रवर 1008  
श्री रामलालजी म.सा.



प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ  
समता भवन, गंगाशहर बीकानेर (राज.)

# ऐसे जगाएँ ज्ञान चेतना

आचार्य श्री रामलालजी म.सा.

प्रथम संस्करण : सितम्बर 2014, 3100 प्रतियाँ

मूल्य : 80/-

अर्थ सहयोगी :

श्रीमान् रतनलालजी, मुकेशकुमारजी, राकेशकुमारजी रांका  
चैन्नई/सारोठ (राज.)

ISBN 978-81-928870-8-1

प्रकाशक :

**श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ**

समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग, नोखा रोड,  
गंगाशहर, बीकानेर-334401 (राज.)

दूरभाष : 0151-2270261, 0151-2270359 (फैक्स)

visit us : [www.shriabsjainsangh.com](http://www.shriabsjainsangh.com)

e-mail : [absjsbkn@yahoo.co.in](mailto:absjsbkn@yahoo.co.in)

आवरण सज्जा व मुद्रक :

**तिलोक प्रिंटिंग प्रेस**

मोहता चौक, बीकानेर - 01 मो. 09314962475

## प्रकाशकीय.....✍

शास्त्रज्ञ, तरुण तपस्वी, प्रशांतमना, आचार्य-प्रवर 1008 श्री रामलालजी म.सा. ने संघ-समर्पणा गीत में प्रारम्भिक पंक्तियाँ उद्धृत की है-

**“संघ हमारा अविचल मंगल नंदनवन-सा महक रहा”**

निश्चित रूप से हमारा संघ नंदनवन के समान महक रहा है। यह महक हमारे गौरवशाली तपस्वी, सेवापुँज, ज्ञानवान, क्रियावान, आचारवान आचार्यों के गुणों की महक है। हमारे संघ में एक से बढ़कर एक गौरवशाली आचार्य हुए हैं जिन्होंने इसी शासन को अपने तप-त्याग से सींचकर आगे बढ़ाया है। आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. ने धार्मिक आचार-विचार पर सद्क्रांति कर इस संघ को उन्नति के पथ पर आगे बढ़ाया जिसे समस्त आचार्यों ने समय-समय पर इसकी यश एवं कीर्ति में अपूर्व वृद्धि की है।

संघ के अष्टम आचार्य समताविभूति आचार्य श्री नानेश अत्यंत ही दूरदर्शी थे जिन्होंने अपनी दूरदर्शिता एवं तार्किकता से संघ एवं शासन की बागडोर आचार्य श्री रामलालजी म.सा. के हाथों में सौंपी। परम् पूज्य आचार्य-प्रवर 1008 श्री रामलालजी म.सा. जिनके चिंतन में मौलिकता, विचारों में एकरूपता, कथनी व करनी में समानता तथा हृदय में विशालता का असीम साम्राज्य है। आचार्य-प्रवर 1008 श्री रामलालजी म.सा. अत्यंत ही कठोर क्रियाधारी है जिन्होंने अपने आचार्यत्व काल में राजस्थान, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडू एवं कर्नाटक आदि क्षेत्रों में सघन प्रवास कर तप एवं त्याग की गंगा बहायी तथा जनमानस के मन में धर्म के प्रति विशेष जागृति उत्पन्न की। आपके संयमीचर्या का ही प्रभाव है कि आपके मुखारविन्द से अब तक 248 दीक्षाएँ सम्पन्न हो चुकी हैं।

जनमानस के मन में धर्म के प्रति विशेष जागृति उत्पन्न करना आपकी ओजस्वी वाणी का ही सुफल है। आपके पावन विचार

सम्पूर्ण समाज में एक अलौकिक क्रांति का संचार कर रहे हैं। आपके क्रांतिकारी प्रवचन निःसंदेह आज के इस युग में अत्यंत प्रासंगिक हैं। संघ ने आपके द्वारा प्रदत्त ओजस्वी प्रवचनों को श्री राम उवाच के रूप में संकलित करने का निर्णय लिया। तदनुसार श्री राम उवाच प्रवचन माला के 11 भाग प्रकाशित हो चुके हैं। अब यह 12वां भाग **“ऐसे जगाएँ ज्ञान चेतना”** का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

श्री राम उवाच भाग-11 भाग तक प्रकाशित होने के पश्चात् पिछले 5 वर्षों से पाठकों की जिज्ञासा एवं मेरी स्वयं की अन्तर्भावना थी कि श्री राम उवाच का 12वां भाग अतिशीघ्र प्रकाशित होना चाहिए ताकि आचार्य भगवन् की दिव्यवाणी जन-जन तक पहुँच सके। पुस्तक के समस्त प्रवचन आचार्य-प्रवर द्वारा सन् 2000 जनवरी-फरवरी में शेखेकाल के दौरान पाली (राज.) में जनजागरण हेतु प्रदान किये गये थे। इस साहित्य के संपादन में विशेष सहयोगी श्री दिलीपजी शर्मा का आभार ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने श्री राम उवाच 12वें भाग के प्रवचनों के संपादन में अपना विशिष्ट सहयोग प्रदान किया। इस बार आचार्य भगवन् के मंगल प्रवचनों से संकलित श्री राम उवाच भाग-12 के प्रकाशन हेतु सहयोग **मुझे व मेरे सुपुत्रों मुकेशकुमार एवं राकेशकुमार रांका, चैन्नई** को प्राप्त हुआ जो हमारे लिये परम् सौभाग्य की बात है।

साहित्य के मुद्रण में आचार्यश्रीजी के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है। तथापि अज्ञानतावश यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो सुधि पाठकों से क्षमायाचना करते हैं तथा उनसे निवेदन करते हैं कि त्रुटि से अवश्य अवगत कराये ताकि भविष्य में इसका परिमार्जन किया जा सके।

**रतनलाल रांका**

संयोजक-साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ

## अर्थ सहयोगी परिचय

स्वनाम धन्य श्रेष्ठिवर्य स्वर्गीय श्री रोडमलजी सा. राँका तथा उनकी धर्मपत्नी सुश्राविका स्व. श्रीमती कंचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर) हैं। आपका जीवन अत्यन्त ही सादगी एवं सरलता से परिपूर्ण था। ये सभी सुसंस्कार आपको अपने पूज्य पिताजी स्व. श्री मेघराजजी राँका से प्राप्त हुए। आप उदार, सरल, सेवाभावी तथा धार्मिकता से ओत-प्रोत सुश्रावक थे आपके पाँच पुत्र एवं एक पुत्री हैं। श्री राँकाजी ने अनेक व्रत-प्रत्याख्यान अंगीकार कर रखे थे। नियमित छः सामायिक एवं स्वाध्याय आपके प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल था।

संतति से प्रदत्त गुणों को लेकर आगे बढ़ते हुए आपके ज्येष्ठ पुत्र स्व. श्री बालचन्दजी राँका ने अपना कर्मक्षेत्र दक्षिण की धरा में चैन्नई को बनाया। व्यापार में अभिवृद्धि के साथ-साथ आपने धार्मिक-सामाजिक कार्यों में भी अपार यश प्राप्त किया। समता भवन, तण्डियारपेट के निर्माण में आपका विशिष्ट सहयोग रहा। आपके द्वितीय पुत्र श्री कन्हैयालालजी राँका राजस्थान में ही रहते हैं आप सारोठ श्रीसंघ के कई वर्षों तक अध्यक्ष पद पर रह चुके हैं। आपके तृतीय पुत्र श्री सम्पतराजजी राँका साधुमार्गी जैन संघ तण्डियारपेट, चैन्नई के अध्यक्ष रहे चुके हैं, चतुर्थ पुत्र श्री पारसमलजी एवं पुत्री श्रीमती नवरतनबाई रूणीवाल भी धर्मनिष्ठ एवं सद्संस्कारी हैं तथा चैन्नई में ही निवासरत हैं।

आपके पाँचवें पुत्र श्री रतनलालजी राँका अत्यन्त मिलनसार मृदुभाषी, सुहृदय, उदारमना, सेवाभावी, उत्साही व्यक्तित्व के धनी पुरुष हैं। आपका धार्मिक-सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत है। श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष एवं राष्ट्रीय मंत्री जैसे विभिन्न पदों को सुशोभित कर चुके हैं। संघ ने आपकी विशिष्ट कार्यशैली, ऊर्जा एवं सहृदयता को देखते हुए आपको संघ के मुखपत्र श्रमणोपासक के सम्पादक पद पर मनोनीत किया। आपने श्रमणोपासक संपादक रहते हुए आपने पत्रिका में समाचारों, लेखों एवं विभिन्न विषयों का समावेश करते हुए उसकी साज-सज्जा आदि का विशेष स्वरूप प्रदान कर समस्त पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। बहुत ही गौरव की बात है कि आपके सम्पादक कार्यकाल में संघ अपनी स्वर्ण जन्मती वर्ष मना रहा था। उस समय आपने संघ के 50 वर्षों का लेखा-जोखा लेकर विभिन्न विषयों का समावेश कर मात्र 64 दिनों में बहुरंगी लगभग 608 पृष्ठों का स्वर्ण जन्मती विशेषांक श्रमणोपासक के अन्तर्गत प्रकाशित कर जैन ही नहीं अपितु जैनेतर समाज के समक्ष भी अनूठी उपलब्धि प्रस्तुत की। जिसकी प्रत्येक क्षेत्र से सभी ने भूरी-भूरी प्रशंसा की। यह विशेषांक साधुमार्गी जैन संघ की श्रेष्ठतम् कृति है। वर्तमान में आप श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ की साहित्य समिति के संयोजक हैं। समिति के संयोजक पद पर रहते हुए आपने अनेकों साहित्यों का सर्जन करवाया। आपके चिन्तन में सदैव नये व विभिन्न विषयों का समावेश लेकर साहित्य मुद्रण की भावना रखते हैं और आप निरन्तर इस ओर गतिशील हैं।

आपने प्रातः स्मरणीय **श्रीमद्जैनाचार्य तरुण तपस्वी, प्रशांतमना, आचार्य-प्रवर 1008 श्री रामलालजी म.सा.** के ओजस्वी प्रवचनों की श्रृंखला श्री राम उवाच भाग 1 से 11 तक मुद्रण करवायी और अब इसका **12वां भाग** भी आपके प्रयासों

एवं अर्थसहयोग से ही मुद्रित हो रहा है। वास्तव में किसी भी कार्य के प्रति समर्पणा आपके मूल स्वभाव में है। जो सदैव आपको भीड़ से अलग प्रदर्शित करती है। आपने अपने जीवन में अर्थोपार्जन के साथ-साथ उसके विसर्जन का भी मूलमंत्र धारण किया हुआ है। आपने संघ की अनेकों प्रवृत्तियाँ जैसे-साहित्य, श्रमणोपासक, जीवदया, स्वधर्मी, समता भवन निर्माण आदि अनेकों प्रवृत्तियों में मुक्तहस्त से सहयोग प्रदान किया है। आप संघ की विशिष्ट प्रवृत्ति संघ महाप्रभावक सदस्यता के सदस्य भी हैं।

संघ के साथ-साथ स्थानीय साधुमार्गी जैन संघ चैन्नई में भी आपका विशिष्ट वर्चस्व एवं सम्मान है। आप श्री साधुमार्गी जैन संघ, चैन्नई के भी मंत्री एवं अध्यक्ष पद पर अपनी सेवाएं प्रदान कर चुके हैं। चैन्नई श्री संघ में आपके अध्यक्षीय कार्यकाल में यह विशिष्ट सौगात रही की परम् श्रद्धेय आचार्य भगवन् के अपूर्व महोत्सव चैन्नई चातुर्मास में आप व आपके परिवार ने तन-मन-धन से सहयोग प्रदान कर चातुर्मास की सफलता में विशिष्ट सहभागिता प्रदर्शित की। आप धार्मिक क्षेत्र के साथ-साथ अनेकों सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं से भी जुड़े हुए हैं। भगवान् महावीर अहिंसा प्रचार संघ-चैन्नई के आप पूर्व उपाध्यक्ष रह चुके हैं व श्रीमती गणेशीबाई गेलेडा स्कूल के उपाध्यक्ष हैं।

आपके जीवन में सम्पूर्ण उच्चता एवं परिपूर्णता होते हुए भी आप “सादा जीवन उच्च विचार” की भावना रखते हैं। आपके हृदय में सदैव दूसरों के प्रति आगाढ़ प्रेम एवं सम्मान है। वर्तमान में चैन्नई में आपके प्लास्टिक का व्यवसाय है साथ ही Ware Housing के निर्माण का कार्य भी है। मानव सेवा के प्रति समर्पित रहते हुए आपने अपने पूज्य पिताजी एवं माताजी की पुण्यस्मृति में सारोठ (राज.) में श्रीमती कंचनदेवी रोड़मलजी रांका चिकित्सालय का भी निर्माण करवाया।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोषबाई धार्मिक प्रवृत्ति, संत-सती सेवा एवं आतिथ्य-सत्कार में सदैव अग्रणी रहती है एवं अपने पति को धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देती रहती हैं। सचमुच में यह कहावत यहाँ शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है कि हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है। आपके दोनों सुपुत्र-श्री मुकेशकुमार, श्री राकेशकुमार भी अपने पिता के पदचिन्हों पर चल रहे हैं। आपकी पुत्रवधू आरती भी धार्मिक प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। आपके दो सुपौत्र श्री विशेष (ऋषभ), श्री आदेश व दो सुपौत्री महक एवं खुशी है। आपकी ज्येष्ठ पुत्रवधू सौ.का. दीपा का दिनांक 18 दिसम्बर, 2012 को आकस्मिक देहावसान हो गया, जो आपके सम्पूर्ण परिवार के लिये अपूरणीय क्षति है।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ठ परिवार है। शासन प्रभावक श्री धर्मेशमुनिजी म.सा. एवं आदर्शत्यागिनी साध्वी श्री जयश्रीजी म.सा. आपके संसारपक्षीय बहनों व बहन हैं।

आपका परिवार स्व. आचार्य श्री नानेश एवं आचार्य श्री रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ को आचार्य-प्रवर 1008 श्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को प्रकाशित करने एवं जन-साधारण तक पहुँचाने के लिए अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभारी है। हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के 11 भाग प्रकाशित हो चुके हैं और 12 भाग ऐसे जगाएँ ज्ञान चेतना आपके हाथों में है। सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इसका लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ.....।

## अनुक्रमणिका

समरसता से सिद्धि की ओर .....	9
लगन लगे परमात्मा से .....	20
बहे जीवन में आनन्द-स्रोत .....	32
सहज न तजना भाव संयोग .....	45
ऐसे जगाएँ ज्ञान चेतना .....	57
कर ले मोती की पहचान .....	71
वंदन बनायें चंदन .....	84
वाह रे ! तर्क .....	103
बनें वीर से हम प्रशंसित .....	116
संजोये सेवा के क्षण सुनहरे .....	128
सुमिरण करके सार्धें मन .....	134
पा ले मनवा शांत समीर .....	143
मैली न हो मन की चदरिया .....	155
मन को बनाएं शोधक यंत्र .....	167
भागो मत अपने को बदलो .....	176
नायक हो सम्यक् निर्णायक .....	190

## समरसता से सिद्धि की ओर

जय जय जय भगवान,  
अजर अमर अखिलेश निरञ्जन,  
जयति सिद्ध भगवान.....जय जय जय भगवान।

भैव्य आत्माओं के लिए सिद्ध-स्वरूप पाना चरम लक्ष्य है। जैसा स्वरूप सिद्ध भगवान का है, वैसा ही स्वरूप हमारी आत्मा का भी रहा हुआ है, किंतु वह स्वरूप विकृत हो चुका है, विलुप्त हो चुका है। यदि हम आत्मा के मूल स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं, तो उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सिद्ध भगवान की स्तुति बहुत महत्व रखती है। भक्त कहता है-

**तुझमें मुझमें भेद न पाऊँ, ऐसा हो संधान।  
जय जय जय भगवान।**

हे सिद्ध भगवन्। मेरे और तुम्हारे बीच में बहुत दूरी है, बहुत बड़ा भेद है, पर कवि की चाहना है, कि तुम्हारे और मेरे बीच में अन्तर न रहे। मेरे भीतर की यह भावना शाब्दिक या वाचिक न रहकर अन्तर हृदय में जागृत हो। बन्धुओं! सिद्ध भगवान से मिलने की छटपटाहट यदि प्रबल होगी तो हमारी आत्मा भी उस सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेगी। इस सन्दर्भ में यह भी समझ लें कि सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिये किसी लंबी योजना या किसी लंबी साधना या दीर्घकाल की आवश्यकता नहीं है। हमारा सामर्थ्य हो तो सिद्ध-स्वरूप एक क्षण में भी प्रकट हो सकता है। मरुदेवी माता हाथी के हौदे पर बैठी हुई भी सिद्ध बन गई। उन्हें सिद्ध बनने में कितना समय लगा, कितना काल लगा ? वहाँ



कितनी तैयारी की गई थी ? कितनी योजनाएं बनाई गई थीं ? मरुदेवी माँ तो सिद्धत्व की पूरी गणित भी नहीं जानती थी, उन्हें यह भी नहीं मालूम था कि साधु जीवन क्या होता है ? जब ऋषभदेव भगवान ने मरुदेवी माँ से कहा कि मैं प्रव्रज्या लेना चाहता हूँ, साधु जीवन स्वीकार करना चाहता हूँ। तब माता मरुदेवी नहीं जानती थी कि साधु-जीवन क्या होता है। भगवान के ऐसा कहने पर मरुदेवी माता ने कहा- अहो लालजी, अवश्य प्रव्रज्या स्वीकार करो।

वह यह नहीं जानती थी कि ऋषभ के कहने का तात्पर्य क्या है, पर उन्हें इतना विश्वास था, कि ऋषभ जो करेगा, अच्छा ही करेगा। इसलिये उन्होंने कह दिया- अहो लालजी, अवश्य दीक्षा लो ।

वह एक ऐसी माता थी जिसे अपने पुत्र पर इतना विश्वास था और एक आप हैं, आप अपना हृदय टटोलें कि आप की संतान पर आपको कितना विश्वास है ? कोई आकर कह दे कि आपके लड़के को मैंने माँसाहारी होटल में देखा था, कोई कह दे आप के लड़के को ट्रिंक करते देखा था, तो अपने बेटे के बारे में ऐसी बातें सुनकर आप बिना जानकारी प्राप्त किये गर्दन नीची कर लेंगे, लेकिन मरुदेवी माता को विश्वास था मेरा लड़का जो करेगा, अच्छा ही करेगा। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें तो एक ऋषभ थे, जिन्होंने अपनी माँ का इतना विश्वास प्राप्त कर लिया था, दूसरी ओर आज की संतानें हैं। क्या आज की संतानें अपने माँ-बाप का उतना विश्वास अर्जित कर पाई हैं ?

हम चाहते तो हैं कि हमारा स्वरूप भी सिद्ध भगवान के जैसा हो, परन्तु विडम्बना यह है कि हमारे कदम उस दिशा में बढ़ते नहीं हैं। हम सूर्य का प्रकाश तो चाहते हैं, पर उस प्रकाश को पाने के लिए सूर्य की दिशा में प्रयाण नहीं करते। हम किसी दूसरी ही दिशा में गति कर रहे हैं। आज का भौतिकवादी व्यक्ति धन और तन को तो महत्व देता रहा है, लेकिन पवित्र मन के निर्माण को महत्व नहीं देता है। होना तो यह चाहिये कि तन और धन चला जाए तो कोई परवाह नहीं, पर मन की पवित्रता बनी रहनी चाहिए। इसके विपरीत जो लोग तन और धन को महत्व दे रहे

है उनके लिये मन को दूषित कर रहे हैं, क्या वे संस्कृति और संस्कारों की रक्षा कर पायेंगे ? हम संस्कृति एवं संस्कारों को महत्व नहीं दे रहे हैं। आज की औलाद जो जैन कुल में जन्मी हैं, उनसे पूछें कि संस्कृति क्या है, चौबीस तीर्थकरों के नाम क्या हैं, तो वह उत्तर नहीं दे पायेंगी। यहाँ तक कि उसे तो नवकार मंत्र भी शुद्ध रूप में याद नहीं है। बहुत से प्रतिष्ठित घरानों के व्यक्तियों को यह कहते हुए सुनते हैं - गमोरिताणं । 'अ' कहीं चला गया और 'हं' का कहीं पता ही नहीं है। चौबीस तीर्थकरों के नाम नहीं जानते। भगवान महावीर का नाम तो फिर भी बता देंगे, बाकी का उन्हें कोई ज्ञान नहीं है। इसका भी ज्ञान नहीं है कि साधु जीवन क्या है ? साधु-श्रावक जीवन से वे बेखबर हैं तो फिर वे कैसे सिद्धत्व की दिशा में बढ़ेंगे ? कदाचित् साधु जीवन एवं श्रावक जीवन को नहीं भी जान पाएँ, कम से कम जिन धर्म को तो जानें कि जिन धर्म क्या है ? कैसे होता है जैनत्व प्रकट ? व्यक्ति राग-द्वेष के कीचड़ से बाहर आए। राग-द्वेष, मोह, अज्ञान से ऊपर उठे। ये राग-द्वेष आत्मा से हटेंगे तो जीवन में जैनत्व प्रकट हो जाएगा। आज हम इसलिए जैन कहलाते हैं, क्योंकि हमने जैन कुल में जन्म लिया है, पर हम जैनत्व को नहीं जानते। जैनत्व के संस्कारों को हम कितना समझकर चल रहे हैं। यह चिंतन का विषय है।

इस विषय पर हमें गहराई से सोचना होगा। कई बार बात उठती है कि भारत में कत्लखानों की संख्या दिनों दिन बढ़ रही है, हिंसा बढ़ रही है। यदि एक व्यक्ति को जैन बनाया जाए तो कितने जीवों की रक्षा हो जायेगी। हम यह नाँद गुँजा रहे हैं कि हम इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर रहे हैं, पर यह प्रवेश कैसा है ? हम केवल शोरगुल से प्रवेश कर रहे हैं या भीतरी शांति के साथ प्रवेश कर रहे हैं ? हम केवल ऊपरी आवरण को नहीं देखें । हमने अगर अपने अन्तःभावों में प्रवेश कर लिया तो इक्कीसवीं सदी में मुस्तैदी चाल से चलेंगे और हमारा जीवन मील का पत्थर बन जायेगा।

पाली-जिसके लिए कहा जाता है कि यह धर्म-नगरी है ।

अनेक नगरों के व्यक्ति भी आज यहाँ उपस्थित हैं। सब ने अपनी-अपनी भावना व्यक्त की है। पाली, मारवाड़ का सेंटर है बाड़मेर, बालोतरा वाले भी अपने क्षेत्र की विनती कर गये। ये सब धर्म का अनुराग है। मैं देख रहा था युवा वर्ग को। मारवाड़ में फिर भी कुछ जागृति है, बाकी तो युवाओं के दर्शन कठिन हैं। युवा वर्ग धर्म के नाम पर बहाना बना लेते हैं। उनसे पूछें तो कहते हैं कि महाराज! क्या करें.... अमुक संत ऐसा कहते हैं, अमुक श्रावक ऐसा कहते हैं, इसलिए हमने स्थानक जाना ही बंद कर दिया है। आप कहेंगे कि युवकों की बात सही है कि सब अपने मत और सम्प्रदाय को सही कहते हैं, ऐसी स्थिति में वे किस ओर जायें ? कहाँ मिलेंगे उन्हें भगवान महावीर ? परन्तु ऐसी मान्यता बनाकर धर्मस्थान में आना बंद कर देना मेरी दृष्टि में सही नहीं है। ऐसी स्थिति में मैं यह मानता हूँ कि जब हमसे कुछ होता नहीं है, तो हम बहाना बना लेते हैं और सोचते हैं कि हमने कामयाबी हासिल कर ली। इस संदर्भ में मैं यह कहना चाहूँगा कि विचार करिये कि आपको सोना खरीदना है, पाली में भी कई बड़ी दुकानें होंगी, लेकिन आप सोना खरीदने के लिए बम्बई गए। किसी समय सुना था कि मोतीलाल एण्ड कम्पनी का सोना शुद्ध होता है, उसमें मिलावट नहीं होती। अब सुनें कि मुम्बई में मोतीलाल एण्ड कम्पनी नाम की कई दुकानें बन गई हैं, अब आप क्या करेंगे ? क्या किसी भी दुकान से सोना खरीदेंगे ही नहीं ? नहीं, ऐसा नहीं होता। जो व्यक्ति स्वर्ण खरीदना चाहता है, वह हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठेगा। अपनी प्रज्ञा को प्रवीण कर कसौटी पर स्वर्ण को कसेगा और वह यदि चौबीस कैरेट का होगा तो कैसी भी मोतीलाल एण्ड कम्पनी की दुकान क्यों न हो, वह शुद्ध स्वर्ण ही लेगा। जैसे वहाँ हमारी बुद्धि शुद्धता की पहचान करती है, वैसे ही हमारी बुद्धि धर्म-क्षेत्र में काम क्यों नहीं करती ? हम धर्म के क्षेत्र में प्रज्ञा का उपयोग क्यों नहीं कर पाते जबकि भगवान का स्पष्ट उद्घोष है -**पण्णासमिक्खाए धम्मं।**

निर्मल प्रज्ञा धर्म की समीक्षा करती है। प्रज्ञा की कसौटी पर धर्म को कसने की जरूरत है। धर्म वस्तुतः जीवन को शांति और संतोष

देने वाला है। जो उद्वण्डता सिखाता है और अशांति पहुँचाता हो, वहाँ किसी भी परिस्थिति में धर्म नहीं हो सकता। जब हम तीर्थंकरों की वाणी का स्मरण करते हैं, तब विचार आता है कि उन्होंने हमें ऐसा धर्म दिया है, जिसमें उद्वण्डता या टकराहट के लिए कोई जगह नहीं है, लेकिन व्यक्ति की मनोवृत्ति को क्या कहें? वह टकराहट पैदा करने में तत्पर बनी रहती है। यही कारण है कि आज धर्म क्षेत्र भी उससे अछूता नहीं रहा। यह टकराहट कैसे पैदा होती है, इसे एक रूपक से जाना जा सकता है।

एक मुल्लाजी अपनी संतान को शिक्षा दे रहे थे। उन्होंने उसे आख्यान सुनाये कि अकबर और महाराणा में टकराहट होती रहती थी। रामायण और महाभारत के प्रसंग भी बताये कि पहले भी टकराहट होती रही थी। उस लड़के ने कहा- अब्बाजान! और तो सब समझ में आ गया, पर मैं यह नहीं समझ पाया कि टकराहट पैदा होती कैसे है ?' मेरे खयाल से बहुत से लोग नहीं जानते कि टकराहट कैसे पैदा होती है ? हम टकराहट देखते हैं, पर उसकी पैदाइश को नहीं जानते, तो आइये यह जान लें कि टकराहट की पैदाइश कैसे होती है।

मुल्ला जी ने अपने पुत्र से कहा- मान लो पाक ने भारत पर अटैक कर दिया, तो बस हो गई टकराहट चालू। मुल्ला जी का इतना कहना ही हुआ था कि बीबीजान बेगम गुराई, जो रसोई घर में बैठी थी। उसने कहा आपकी नीयत खराब हो गई है, पाक के पीछे हाथ धो कर पड़े हो। पाक तो पाक-पवित्र है वह क्यों शरारत करेगा ? मुल्ला ने कहा- मैंने तो कहा था मान लो, मैंने ये कहाँ कहा कि पाक ने भारत पर अटैक किया है। मान लो कि पाक ने भारत पर.....इसी बीच बीबी बोल पड़ी, 'क्यों मान लें ?' आप तो पाक के पीछे पड़े हो, स्वयं की नीयत तो खराब है ही और अभी से बेटे के मस्तिष्क में भी पाक के खिलाफ संस्कार भर रहे हो। मैं अपने रहते ऐसा नहीं होने दूँगी। मुल्ला ने कहा- मैं तो उदाहरण दे रहा था। बेगम ने कहा-ऐसे उदाहरण देने की जरूरत नहीं है। मुल्ला ने कहा- मैंने तो 'मान लो' कहा था और तुम झगड़ पड़ी। बेगम को आया

गुस्सा, उठाया हाथ में बेलन और उछाल दिया मुझे पर। मैंने कह दिया कि पाक का नाम मत लो, फिर कहते हो मान लो, क्यों मान लें ? मुझा कहने लगा क्यों इतनी बक-बक करती हो, मैं इतना स्पष्ट कह रहा हूँ, फिर भी नहीं मानती। वह भी चुप रहने वाले नहीं थे। बेगम को पीटने के लिये सोट उठाया ही था, कि इतने में लड़का बीच में आ गया और बोला- अब्बाजान!, अम्मीजान! आप दोनों लड़ते क्यों हो ? मैं समझ गया टकराहट की पैदाइश कैसे होती है। मैं सब समझ गया। अब आप दोनों चुप हो जाओ।

इस पारस्परिक अनावश्यक विवाद पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ अहंकार आ जाता है, वहाँ टकराव होता है। वही कलह का मूल है। वह टकराहट केवल मुझा-बेगम के बीच ही नहीं, हमारे साथ भी होती है। परिवार में जहाँ सास-बहू हैं देवरानी-जेठानी हैं, वहाँ आपस में टकराहट हो जाती है, 'मुझे क्यों कह दिया ? घर में साथ-साथ रहते हैं, न कहे तो क्या मुँह फुला कर बैठ जायें ? मुँह फुला के बैठ जाये तो रहना कठिन हो जाएगा। एक दूसरे के साथ रहते हैं तो हित की भावना से कहना भी पड़ता है, लेकिन जब ईगो पाइंट आ कर खड़ा हो जाता है, तो टकराहट पैदा हो जाती है। टकराहट होती है तो चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। चकमक पत्थर को रगड़े या माचिस की तीली को रगड़ें, टकराहट होगी और आग पैदा होगी। यदि हमारे भीतर भी टकराहट होती है तो आग पैदा होगी। आग पैदा हम खुद करते हैं और जब झुलसने लगते हैं तब हम चाहते हैं कि आग बुझ जाय। जाट-जाटनी की कहानी आपने कई बार सुनी होगी।

एक बार वे दोनों झगड़ पड़े, दोनों ही चाहते थे कि संघर्ष मिट जाए, पर पहल कौन करे ? पहल करे तो छोटे बाप का हो जाए। दोनों विचार करने लगे, कुछ ना कुछ उपाय तो करना होगा। जाटनी ने कहा- मैं पीहर चली जाऊँगी। जाट सोचने लगा-यदि पीहर चली गई तो बुरा लगेगा। गाँव वाले क्या कहेंगे। पर पहल कौन करे ? जाटनी घर से निकली, गाँव के बाहर पहुँची कि उसके पैर धूजने लगे। क्या करूँ यदि पीहर वालों को पता चलेगा कि झगड़ा करके आई है, तो कहेंगे- बठैऊँ लड़कर क्यों आई ? और उपालंभ देंगे। सोचा वापस घर चली जाऊँ,

लेकिन घर गई तो जाट कहेगा आखिर झकमार कर आना ही पड़ा। अतः क्या करूँ ? आज ऐसी दुविधा से बहुत लोग ग्रस्त हैं, पर कोई पहल करने को तैयार नहीं। वो चाहता है, वो झुके और वो चाहता है वो झुके, पर झुके कौन ? नीति वाक्य है -

**आम झुके इमली झुके, झुके तो दाड़म दाख।**

**एरंड बेचारा क्या झुके, जिसकी ओछी शाख।।**

मुझे नहीं मालूम कौन एरण्ड है, कौन आम है, कौन इमली और कौन दाड़म दाख है। जैन कुल में ऐसे संस्कार होने चाहिए और जैनी ऐसा होना चाहिए कि जिसके जीवन में विनम्रता का रस ही शांत स्वभाव हो किन्तु आज छोटी-छोटी सी बात को लेकर परिवार और समाज टूट रहे हैं। जहाँ देखो, वहीं तड़। दो टकराये कि.....तड़ाक।

जब आचार्य भगवान का रायपुर छत्तीसगढ़ में चार्तुमास था, मुसलमानों का जुलूस निकला। कुछ उदण्ड लड़कों ने आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. के नाम का पर्दा फाड़ दिया। जैनी आये और ट्रकों के सामने सो गये, कहा- जुलूस को आगे बढ़ने नहीं दिया जायेगा। हमारे गुरु का अपमान कर दिया। जैसे-तैसे बात समेटी, सरकारी अफसरों ने। श्रावकों से पूछा आपके गुरु कहाँ है ? बताया गया कि यहीं सुराना भवन में हैं। उन्होंने कहा- हम कल वहाँ पहुँचकर माफी माँग लेंगे। दूसरे दिन मुल्लाजी एस.पी. साहब के साथ सुराना भवन में पहुँचे, नया पर्दा लेकर। व्याख्यान में गुरुदेव से माफी माँगते हुए कहा- किसी उदण्ड ने आपके नाम का पर्दा फाड़कर आपकी तौहीन की है, हम क्षमा चाहते हैं, आप यह नया पर्दा स्वीकार कीजिए। गुरुदेव ने कहा-मैं यहाँ तोड़ने नहीं, जोड़ने आया हूँ। पर्दा फटने से मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ा। पर्दे तो फटते रहते हैं, मनुष्य के दिल का पर्दा नहीं फटना चाहिये। आचार्य श्री जी ने एक दोहा भी सुनाया-

**तांबा सोना सुघड़ नर, टूटे जुड़े सौ बार ।**

**मूरख हांडा कुम्हार का, जुड़े न दूजी बार।।**

कुम्हार के हांडे में यदि तड़ पड़ जाए तो वह जुड़ता नहीं है। सोने में जल्दी तड़ पड़ती नहीं है। जो जातिवान धातु होती है, उसमें जल्दी टूटन पड़ती नहीं है। यदि टूटन पड़ भी जाए और उसे जोड़ना चाहे तो वह जुड़ भी जाती है। हम विचार करें कि हम किस धातु के बने हुए हैं। मूर्ख कुम्हार के हांडे की तरह तो हम नहीं है ? वहाँ आचार्य देव ने कहा-में यहाँ दिल तोड़ने नहीं, बल्कि एक-एक को जोड़ने आया हूँ। मुल्लाजी पानी-पानी हो गए। एस.पी. साहब कहने लगे, ऐसे महान् संत यहाँ विराज रहे हैं और इतने सुन्दर प्रवचन हो रहे हैं, पर ट्राफिक की अधिकता के कारण श्रोताओं को असुविधा होती है। उन्होंने व्याख्यान के समय उस रोड पर वन-वे ट्राफिक का आर्डर करवा दिया।

बन्धुओं! आचार्य देव के विचार कितने सुन्दर थे कि टूटन नहीं होनी चाहिए। हमारा अंतःकरण भी जातिवान धातु की तरह होना चाहिए। इस सभा में ही पूछ लूँ-कौन सोना बनना चाहेगा और कौन लोहा बनना चाहेगा ? सभी सोना बनना चाहते हैं। लोहा कोई नहीं बनना चाहता। सोना बनना चाहते हैं तो समझें कि सोने की तीन कसौटियाँ होती हैं - तप, छेद और कश। जो सोना तीनों कसौटियों पर खरा उतरा है उसे ही लोग ग्रहण करते हैं। लोहे के आभूषण कितने लोग पहनना चाहेंगे ? और सोने के आभूषण ? यदि किसी ने लोहे के आभूषण पहन लिये तो वे न तो उसकी शोभा बढ़ाएँगे और ना ही बाजार में उसकी कोई कीमत होगी। कितनों की नजर उसकी ओर जाएगी ? और कोई भाई या बहन ऊपर से नीचे तक सोने के आभूषणों से लदा हो, उसका शरीर स्वर्ण के गहनों से सजा हो, तो कितने लोग देखने लगेंगे ? उसके एक-एक आभूषण को हाथ लगाकर देखना चाहेंगे। क्यों ? क्योंकि वे जातिवान धातु के बने हैं। जातिवान की तरफ लोग आकर्षित होते हैं।

तो बंधुओं! हम टकराते हैं, यदि उसके पीछे कारण ढूँढ़ें तो महत्वपूर्ण कारण कुछ नहीं होता। हम अकारण ही आग पैदा कर लेते हैं। फिर चाहें कि झुलसें नहीं, यह कैसे संभव है। जाटनी सोच में डूबी थी। घर जाना है। पर जाऊँ कैसे ? इतने में उसकी नजर अपने घर की भैंस

पर पड़ी, उसकी बुद्धि काम करने लगी। उसने भैंस की पूँछ पकड़ ली और जोर-जोर से चिल्लाने लगी- अरे भैंस बाई! मुझे मत ले जाओ। भैंस बाई मुझे जबरदस्ती मत ले जा। भैंस घर पहुँच गई। उसके साथ जाटनी भी पहुँच गई और वहाँ भी वह बार-बार यही कहती रही- भैंस बाई! तू मुझे जबरदस्ती क्यों ले आई ? जाट ने देखा और कहा, अब चुप रह जा, अब चुप रह जा, होय गयो। जाटनी ने कहा- थे पहले ही बोल जाता तो ऐसी नौबत क्यों आती? छोटी सी बात के पीछे भी कैसी-कैसी स्थिति बन जाती है। हम समझ नहीं पाते। पर यहाँ भली-भाँति समझ लें कि यदि हमें इक्कीसवीं सदी की ओर जाना है तो समता के साथ जायें, शालीनता के साथ जायें। इक्कीसवीं सदी में जाने की बात तो लोग करते हैं, पर हालात यह है कि यदि महाराज कहें कि श्रावक जी सामायिक किया करो तो कहेंगे समय नहीं है। यदि कहें एकासना किया करो, तो फिर कहेंगे समय नहीं है। कहें दया किया करो तो समय नहीं है। कहाँ चला गया समय? कितना व्यस्त जीवन है कि हमें अपने परिवार को, समाज को, देखने की फुर्सत ही नहीं है। परिवार के बच्चे क्या पढ़ रहे हैं, उनका जीवन कैसा बन रहा है, यह देखने की हमें फुर्सत नहीं। संतों की चर्चा क्या है? उससे हमें लेना-देना नहीं है। हम तो चाहते हैं संत भी हमारे अनुकूल चले। संत आपके अनुकूल चले तो ठीक अन्यथा संतों को भी सीख देंगे कि महाराज युग के अनुसार चलें, नहीं तो हम पिछड़ जायेंगे, हमारा धर्म पिछड़ जायेगा। इसलिए आप तो पुराना छोड़ो, मॉडर्न विचार अपनाओ। किसे कहते हैं आप आधुनिक विचार ? किसे कहते हैं आप मॉडर्न विचार ? नये विचार-पुराने विचार की व्याख्या क्या है? मैं इस सम्बन्ध को भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हमें नए से न द्वेष है, न ही पुराने का आग्रह है। न नए का आग्रह, न पुराने से द्वेष। नया हो या पुराना, पर हो यथार्थ। आप नया किसे समझते हो? आप टी.वी. देखते हैं। पचास वर्ष पहले जिस पहनावे को छोड़ दिया था उसे अब वापस अपनाने लगे हैं। पचास वर्ष बाद वह नया हो गया। नया और पुराना तो होता रहता है। हमें तो यह देखना है कि हमारी संस्कृति किसमें सुरक्षित रह सकती है। नये का दुराग्रह नहीं होना चाहिए। नए का भी समावेश



किया जा सकता है, यदि वह मौलिक सिद्धान्तों से अविरोधी हो तो, केवल विज्ञान के आधार पर चलें और धर्म को छोड़ दें तो यह कैसे हो सकता है। विज्ञान के आधार पर आकाश में उड़ना चाहें तो सारा मामला बिगड़ जायेगा। यदि हमने धर्म-संस्कृति की जमीन छोड़ दी, ऊपर उड़ने की कोशिश की तो कहाँ जाकर गिरेंगे, पता नहीं। नये-पुराने का आग्रह न करके सत्य को स्वीकार करने के लिये हमारे द्वार सदा खुले रहने चाहिए। सत्य जितना पुराना है। उतना ही नया है। सौ साल या हजार साल पहले जो सत्य था आज भी वही सत्य है। दूसरे शब्दों में न वह पुराना है न नया/वह तो बस है। नये पुरानों का झंझट तो हम पैदा कर देते हैं। उस लड़के ने कहा था अब्बा जान मैं समझ गया। आप भी समझ गए होंगे कि आज व्यक्ति घर में, समाज में कौन टकराहट पैदा करता है।

बंधुओं! टकराहट के सामाजिक पक्ष की मैं आपके सम्मुख किंचित विवेचना कर देना चाहता हूँ। पद नहीं मिलने पर, अहं की टकराहट किस प्रकार की परिस्थितियाँ पैदा करती है, इसे समझिये। जब व्यक्ति को कोई पद नहीं मिलता है तो वह बोलता है, हमें क्या करना। काम तो वह करेगा जिसका समाज ने चयन किया है। चयनित व्यक्ति तो सेवा करता ही है, पर जो यह सोच लेता है कि समाज तो मेरे बल पर ही चलता है। मेरे बिना कुछ हो ही नहीं सकता, यह सोच गलत है। मेरे बिना चल नहीं सकता, ऐसी सोच ही टूटन पैदा करती है। इससे विपरीत यथार्थ को स्वीकार करने से समन्वय बनता है। यदि समन्वय न बने तो एक-एक दिल को हम जोड़ नहीं पाएंगे।

आचार्य देव जयपुर में थे। जैन सुबोध कॉलेज के सदस्यों के बीच कुछ टकराहट थी। दोनों तरफ जौहरी थे। उन्होंने आचार्य देव से कहा, “गुरुदेव बहुत से संत आये। हमने निवेदन किया पर किसी से मामला निपटा नहीं। अब आप ही इसे सुलझा सकते हैं।” आचार्य देव ने कहा, मैं झगड़े का निर्णय नहीं करता। आप सर्वानुमति से किसी को मध्यस्थ चुन लो, फिर दोनों पक्ष के व्यक्ति बैठकर आपस में बात कर लो। वे लोग आचार्य देव से कुछ दूर बैठ गए। थोड़ी देर के बाद आये और कहने लगे, गुरुदेव साठ प्रतिशत झगड़ा तो समाप्त हो गया है। साठ

प्रतिशत क्या था ? यह कि आपने मेरे लिए उनसे यह कहा, उसने आपके लिये यह कहा है। इन्हीं छोटी-मोटी बातों से टकराहट पैदा हो गई और दरार बढ़ती चली गई। आपस में बैठे तो साठ प्रतिशत सेट हो गई। बाकी जो थी, हिसाब-किताब सम्बंधित वह भी मध्यस्थ व्यक्ति के प्रयत्न से निपट गई और प्रेम की गंगा बहने लगी। ऐसा तब होता है जब टकराहट की पैदाइश का कारण जान पावें और उसके निराकरण हेतु तत्पर हों।

पाली धर्म नगरी है और यहाँ की जनता धर्मनिष्ठ है। पूज्य आचार्य श्री चौथमलजी म.सा. की यह जन्मभूमि है। यहाँ संस्कृति के प्रति, धर्म के प्रति प्रेम है, लगाव है। मैं चाहता हूँ कि यह प्रेम वाचिक न रहे बल्कि जीवन के अणु-अणु में व्याप्त हो जावे। अतः आप बुद्धि का उपयोग कर धर्म की समीक्षा करें। बुद्धि का उपयोग लड़ने-भिड़ने में नहीं हो। बंधुओं! पानी का प्रवाह बहता है, बीच में चट्टान भी आ जाती है, तो पानी उससे लड़ने नहीं बैठता। चट्टान पड़ी है तो पड़ी रहे, वह अपना मार्ग बनाकर निकल जाता है। इसी प्रकार हमें अपनी राह बनानी है। हम यह सोचकर धर्म को स्वीकार करके चलें, तभी **चरैवेति चरैवेति** चलते रहने की स्थिति सुनिश्चित हो पायेगी और चलते-चलते हम मंजिल को भी प्राप्त कर लेंगे। इक्कीसवीं सदी में जो व्यक्ति भौतिक चकाचौंध की ओर बढ़ना चाहता है, वह वस्तुतः उत्थान नहीं कर सकता। हम बढ़ें धर्म को, संस्कृति को पावन बनाने की ओर। इक्कीसवीं सदी में यदि इस संकल्प से प्रवेश करेंगे। लोग देखते रह जायेंगे कि जैन संस्कृति कितनी पावन संस्कृति है, मरूदेवी माता को अपनी संतान पर पूरा भरोसा था तो दूसरी तरफ ऋषभदेव जैसा पुत्र था। जिसने माँ के दिल में पूरा विश्वास जमाया था। यदि ऐसी स्थितियाँ बन जायें तो परिवार, समाज में टकराहट हो ही नहीं सकती। टकराहट स्वयं दूर भागेगी। परिवार और समाज में अमन-चैन का वातावरण बनेगा और सच्चे रूप में हम जैनत्व को प्रकट करके सिद्धत्व की ओर प्रयाण करने में सफल हो पायेंगे। इक्कीसवीं सदी हमारे लिए वरदान रूप सिद्ध होगी।



## लगन लगे परमात्मा से

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सूँ.....।

**अ**नादि काल से आत्मा कर्म संयोग से विकार ग्रस्त बनी हुई है। जिससे वह अपने मूल स्वभाव को ही भूल चुकी है। उसे स्वभाव का बोध कराने के लिए तथा उसके स्वभाव को जागृत करने के लिए धर्म जिनेश्वर का स्मरण अत्यंत प्रभावकारी है। जैसे लोहा जब चुम्बक के प्रभाव-क्षेत्र में आ जाता है, तो वह चुम्बक द्वारा तुरन्त आकर्षित कर लिया जाता है। वैसे ही जिनेश्वर देवों का स्मरण जिनत्व को आकर्षित करता है। जिनेश्वर देवों की प्रार्थना, स्तुति आकर्षण का सशक्त माध्यम है।

वर्तमान में एक शिकायत प्रायः हर क्षेत्र में सुनने में आती है। वह शिकायत यह है कि आज व्यक्ति धर्म से अलग होता जा रहा है। धर्म के प्रति उसका लगाव कम पड़ता जा रहा है, पर इसका कारण शायद ही कोई ढूँढ पाया है कि व्यक्ति धर्म से दूर क्यों हटा है ? कारण अनेक हैं, एक नहीं और हर व्यक्ति एक ही प्रकार के कारण से धर्म से दूर नहीं होता। अलग-अलग व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं। मुख्य कारण यह है कि जो धार्मिक हैं, उन्होंने धर्म को समझा ही नहीं है। बड़े-बड़े धुरन्धरों से पूछ लो तो वे कहेंगे धर्म पंगु है। उसे धक्का देने वाला चाहिए। चलाने वाला चाहिए। धर्म को चलाना पड़ता है या वह स्वयं चलता है? आप सोचेंगे क्या जवाब दें। यदि आपका जवाब यह कि धर्म को चलाना पड़ता है, धर्म पंगु है तो युवा विचार करेंगे कि जो स्वयं पंगु है, दूसरों के सहारे चलता है उसका सहारा क्यों लिया जाए। पंगु के

सहारे से क्या प्राप्त होगा ? वस्तुतः हमने धर्म को समझा ही नहीं है। धर्म की जो तेजस्विता है, उसे हम ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं। केवल ऊपरी तौर पर धर्म का लीबास ओढ़े हुए हैं। हम धर्म की चादर ओढ़ते जरूर हैं, पर धर्म की तेजस्विता को स्वीकार नहीं कर पाते हैं, परन्तु जिन्होंने धर्म की तेजस्विता का अनुभव कर लिया, वे चाहते हैं कि उसमें कहीं भंग नहीं पड़ना चाहिए। सम्बन्ध ऐसा जुड़ जाये कि बीच में व्यवधान न रहे।

एक व्यक्ति की दुकान पर ग्राहक आ रहा है, लेकिन बीच में ही पास की दुकान वाला इशारा करके उसे बुला ले तो उस पर क्या बीतेगी ? उसके अन्दर तूफान मच जाएगा। उससे टकराहट हो जाएगी- मेरी दुकान में आने वाले को क्यों रोक दिया ? यदि वही ग्राहक आपकी दुकान छोड़कर उसकी दुकान में चला जाए तो उसे भला-बुरा कहने लगेंगे और यदि आप परमात्मा की भक्ति में लगे हैं और किसी ग्राहक ने आवश्यक काम के लिए बुला लिया, उसने आपकी दुकान से ढेर सारा माल खरीद लिया, तो उसे कुछ कहेंगे कि मुझे परमात्मा के चरणों से क्यों विलग किया। मन किधर लग जाएगा ? भले ही भक्ति में बैठे हैं, पर भक्ति कहीं रह जाएगी ? हमारी भक्ति कहाँ तक पहुँची है- शरीर तक या वचन तक ? जब हमारी भक्ति मन तक ही नहीं पहुँची, तब वह आत्मा तक कैसे पहुँच पाएगी ? मन नहीं रंगा तो आत्मा कैसे रंगाएगी। हम शरीर को जरूर रंगते हैं, पर मन को नहीं रंग पा रहे हैं। मन इधर-उधर जा रहा है, उसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करते हैं। हम इतना जरूर मान लेते हैं कि मन नहीं लगता तो सामायिक करके क्या करें। मैं यह नहीं कहता कि मन लगे तो सामायिक करें, मन न लगे तो न करें। ऐसा कह दें तो सामायिक करने वाला एक भी न मिले। सामायिक की ही बात नहीं है, चाहे साधु बन जाए पर मन क्या पूर्णतः स्थिर हो पाता है ?

सुव्रत अणगार का नाम आपने सुना होगा। छती (विद्यमान) ऋद्धि के त्यागी। एक उपदेश सुना, उत्कृष्ट वैराग्य भाव आया और ऐसा मंजीठिया रंग लगा कि कितना भी धोओ तो भी न उतरे। मेघकुमार की माता ने कितना समझाया, पर वे हिले क्या ? नहीं हिले। वैसे ही सुव्रत

के माता-पिता, परिजनों ने समझाया, पर वहाँ एक ही लगन लग गई थी। लगन भी ऐसी लगी कि दुनिया फीकी लगने लग गई। कभी-कभी वैरागी के परिवार वाले कहते हैं, इतनी जल्दी क्या है, पर वे उसके भीतर की ललक को नहीं जान पाते। इसीलिए कहते हैं कि थोड़े दिन घर पर रहो। यदि घर से उसका संबंध जुड़ा होता तो लम्बे समय से घर पर रह ही रहा था, पर अब घर में मन रमता नहीं।

उत्तराध्ययन सूत्र के माध्यम से महारानी कमलावती से संबंधित प्रसंग आपने सुना ही होगा। क्या हुआ था महारानी कमलावती को ? देख रही थी कि राजभण्डार में गाड़ियाँ भर-भर कर धन आ रहा है। इतना धन कहाँ से आ रहा है, पूछने पर मालूम पड़ा कि भृगु पुरोहित यशा ब्राह्मणी और उसके दोनों पुत्र दीक्षा ले रहे हैं। उनके पीछे कोई नहीं है इसलिए सारी संपत्ति राज-भण्डार में लाई जा रही है। उसके भाव उभरे। किसी के द्वारा वमन की हुई सम्पत्ति यदि भण्डार में आएगी, तो क्या भण्डार अक्षुण्ण हो जाएगा ? उसकी अनुप्रेक्षा आत्मसापेक्ष बनी। गहरे में ....और गहरे में .....और गहराई में वह पहुँची, जहाँ उसकी अनुप्रेक्षा निःशब्द बन गई और ये उद्गार फूट पड़े-

**गाहं रमे पक्खिणी पंजरे वा संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं.....।**

पिंजरे से लगाव टूट गया तो शाश्वत से लगाव हो गया। जो शाश्वत को जान लेता है। वह क्षणभंगुर में कैसे आसक्ति रख सकता है ? मोह का अंत हुआ तो दुःखों का भी अंत हो गया और वह परिनिवृत हो गई, सम्राट भी पीछे नहीं रहे।

बंधुओं! आप जानते हैं कि शरीर के साथ आप का संबंध अस्थायी है, क्षणिक है। आप विवाह आदि प्रसंगों पर धर्मशाला बुक कराते हैं। बुकिंग का समय पूरा हो जाए तो उसे खाली करना पड़ता है। जमीन की बुकिंग तो फिर भी पाँच-दस-पंद्रह दिन बढ़ा लेंगे, पर आयु में बढ़ोतरी करोड़ों रुपये दें तो भी नहीं हो सकती। इसीलिए कभी-कभी संत सुनाया करते हैं-

**चेतन चेतो रे दस बोल जगत में दुर्लभ मिलिया रे।**

**चेतन चेतो रे.....।**

**चतुर्गति में गेंद दड़ी ज्यूं, गोता बहुला खाया रे।**

**दुर्लभ पायो भिनख जमारो, गुरू समझाया रे।**

**चेतन चेतो रे.....।**

कभी देखा है बच्चों को गेंद खेलते हुए ? कैसे खेलते हैं ? एक बार गेंद ऊपर उछलती हैं, फिर नीचे गिर जाती है और गोते लगाने लगती है और ऐसे गोते कितने ही खाये हैं हमने, फिर भी अभी तक मन भरा नहीं है। मन अभी भी संसार में आसक्त है, पर दूसरी तरफ कहते हैं- **धर्म जिनेश्वर गांऊ रंग सूं।** मन जिनेश्वर में रमा नहीं है, संसार में रमा है तो क्या गा पाएँगे ? हम दो घोड़ों की सवारी कर रहे हैं। दो घोड़ों की सवारी कैसी होती है ? टांग तोड़ने वाली होती है। आप कहेंगे- महाराज, श्रावक को तो दो घोड़ों की सवारी करनी पड़ती है। भक्ति भी करनी पड़ती है और संसार की मस्ती भी लेनी पड़ती है। तर्क तो आपका भी सही है, पर शास्त्रकारों ने श्रावकों के लिए कहा है- **धम्मट्टिया धम्मणेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति** अर्थात् श्रावक धर्म में स्थित होता है एवं धर्म से वृत्ति करने वाला होता है। वह संसार में रहता हुआ भी धर्म में स्थित रहता है। धर्म स्थित कब रह सकता है, जब मन शुद्ध रहे, पवित्र रहे। मन की शुद्धि के लिए अन्न की शुद्धि को भी आवश्यक माना गया है। कहा भी गया है 'जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन इससे यह स्पष्ट होता है कि जब तक हमारे अन्न की शुद्धि नहीं होगी, तब तक मन भी पवित्र नहीं हो सकेगा। मन पवित्र नहीं होगा तो जिनेश्वर देवों से सम्बंध कैसे जुड़ेगा ? प्रभु चरण से सम्बंध जोड़ना है, तो मन को पवित्र रखना होगा। सेठानी एक छाणा बिन पूछे ले आई तो पूर्णिया सेठ का मन हलचल में आ गया। सामायिक का समाधि भाव भंग हो गया। आप स्वयं देखो आपकी जाजम के नीचे आपकी रसोई में कौन सा धन आ रहा है ? पेट में कौन सा अन्न जा रहा है ? जब तक जीवन की समीक्षा नहीं होगी। तब तक धर्म जिनेश्वर के रंग में स्वयं को नहीं रंग सकोगे।

जब तक मन भौतिक सत्ता सम्पत्ति में गुलछर्रे उड़ाएगा, तब तक वह आत्मा की दिशा में कैसे बढ़ पायेगा? एक कदम आत्मा की दिशा में बढ़े और फिर पीछे हटे तो आगे नहीं बढ़ पायेंगे, जहाँ के तहाँ ही स्थित रहेंगे।

मैं सुव्रत अणगार के विषय में बता रहा था। उत्कृष्ट भावों से संयम स्वीकार किया। गुरु चरणों में आगमों का अध्ययन किया। आगमों के रहस्य को जीवन में उतारने का प्रयत्न किया। किन्तु एक बार मोदक महोत्सव का प्रसंग आया। उस दिन संत जिस ग्राम में पहुँचे, संतों की अगवानी में श्रावक आये नहीं। किसी संत के मन सहज स्फुर्णा हुई कि क्या बात है, यहाँ के श्रावक तो बड़े धर्मनिष्ठ हैं, साधु-संतों के प्रति अपार भक्ति रखने वाले हैं। पहले जब भी इस ग्राम में आये, तो लोग अगवानी में तत्पर मिले। इस बार क्या हुआ, जो श्रावक अगवानी में नहीं आये ? दिन में श्रावक आए तब जानकारी करने पर ज्ञात हुआ कि आज मोदक महोत्सव है।

आचार्य महाराज ने कहा - आज घरों में गरिष्ठ भोजन बना है, इसलिए उपवास कर लेना चाहिए। सुव्रत अणगार को ज्ञात हुआ कि अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार सभी मोदक बनाते हैं। जैसे कोई मेथी के, कोई गोंद के, कोई उड़द के तो कोई सोंठ के मोदक बनाते हैं। कोई केसरिया मोदक भी बनाते हैं। सुना केसरिया मोदक तो मुँह में पानी आ गया। पूर्व में खाये हुए थे तो संस्कार जाग उठे। किसी न किसी के यहाँ तो केसरिया मोदक भी बनें होंगे। पुरानी स्मृति जगी, मेरे घर में भी बनते थे। मैं रुचि-पूर्वक खाता था। मुझे रुचिकर लगते थे। आज ऐसा संयोग मिला है। आज सब संत उपवास कर रहे हैं, गुरुदेव ने भी किया है किन्तु आज यदि मैंने उपवास पचक्खर लिया तो फिर केसरिया मोदक कहाँ मिलेगा ?

बंधुओं! कितने उत्कृष्ट भावों से संयम स्वीकार किया था, पर भावों की स्थिति कैसी बन गई ? मन फिसल गया। पहुँच गये गुरुदेव के पास कि आज तबीयत ठीक नहीं है। उपवास होना कठिन लग रहा है। वस्तुतः तन बीमार नहीं, मन बीमार हो गया था। तन बीमार हो या न हों

यदि मन बीमार होता है तो तन स्वतः बीमार हो जाता है। कहने लगे, मैं उपवास करने की स्थिति में नहीं हूँ। गुरुदेव ने कहा कोई बात नहीं, मैं दूसरे संतों को भेज कर गोचरी मँगवा देता हूँ। नहीं, गुरुदेव! संतों के उपवास है। उनको क्यों तकलीफ दी जाए, मैं स्वयं चला जाता हूँ। देखिये, लालसा के पीछे कितनी योजनाएँ बनानी पड़ती हैं। भीतर के भावों को छिपाने के लिये कितनी बातें रचनी पड़ती हैं। गुरु ने कहा- देख लो, तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, तो दूसरे चले जायेंगे। गुरुदेव, ऐसी कोई बात नहीं है। गुरु की आज्ञा मिल गई, आँखों में चमक आ गई, उठाये पातरे, गोचरी चले गये। घरों में गये। दूसरे-दूसरे लड़ू। अवसर, अवसर, अवसर कहते हुए टालते गये। वे स्वयं को धोखा दिए जा रहे थे या गृहस्थ को? गृहस्थ सोच रहे थे अहो! महाराज कितने त्यागी हैं, पर त्यागी था कौन ? मन की भावना पूरी नहीं हो रही थी, इसलिए छोड़ा जा रहा था। वह त्याग नहीं था। लालसा-आकांक्षा पूरी नहीं हो रही थी। इसलिए अवसर-अवसर कह रहे थे। एक जगह केशरिया मोदक थे भी, पर सूझते नहीं थे। मन में झल्लाहट भी हुई। विचार करने लगे- दूसरा घर होता तो आँख मीचकर ले भी लेता, पर पाटिये के श्रावक हैं, कहीं गुरुदेव से शिकायत कर देंगे। थोड़ी-सी लालसा के पीछे त्याग भावना गुमराह हो गई। एक दूसरे घर गए, वहाँ भी केशरिया मोदक बने थे, किन्तु गृहस्थ ने लड़ू धामें नहीं, ग्रहण करने का निवेदन नहीं किया। वहाँ भी वे निराश हुए, क्योंकि साधु-मर्यादा के अनुसार गरिष्ठ भोजन की बिना कारण याचना की नहीं जा सकती।

साधु साग, रोटी, पानी और छाछ तो मांग सकता है किन्तु दूध, दही या अन्य चीजों की याचना नहीं कर सकता। अन्य चीजों की याचना अगर वह करता है तो गलत है क्योंकि साग, रोटी तो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हैं और प्रायः हर घर में उपलब्ध हो सकते हैं। पर हाँ, यदि गृहस्थ के घर में बाजरे की रोटी हो तो साधु गेहूँ की रोटी की याचना नहीं करे। यह बात अलग है कि उसे चाहना नहीं है, तो वह छोड़ सकता है। भगवान ने यहाँ तक फरमाया है कि यदि किसी के घर



में उसने पानी देखा और उसे संदेह हो कि यह प्यास बुझाएगा या नहीं तो वह थोड़ा पानी मांग कर चख ले, फिर लगे कि यह प्यास बुझा सकता है, तो ले, अन्यथा छोड़ दे। यदि उसको नहीं चलता हो तो छोड़ सकता है। पहली बात तो चलने, नहीं चलने की स्थिति होनी ही नहीं चाहिए, पर वर्तमान में व्यक्ति कागजी शरीर लेकर चल रहा है। थोड़ा-सा ऊँचा-नीचा हुआ कि गैस-ट्रबल, पित्त या अजीर्ण की स्थिति बन जाती है, इसलिए शरीर के संहनन को भी देखने की आवश्यकता होती है। शरीर संहनन की स्थिति से नहीं चले, तो छोड़ा जा सकता है। मैं कह रहा था कि बाजरे की रोटी हो तो गेहूँ की नहीं मांगना। क्यों नही मांगना ? इसके पीछे भी कारण है। यदि गृहस्थ के घर में गेहूँ की नहीं होगी तो उसे नीचा देखना पड़ेगा, वह हीनभाव महसूस करेगा। वह सोच सकता है कि मैं बाजरे की रोटी खाता हूँ, यह ऊँचा खाना नहीं है। गेहूँ की रोटी का खाना ऊँचा है। वह शर्म महसूस करेगा। इसलिए कहा गया कि वहाँ गेहूँ की रोटी नहीं मांगना।

मुनि सुव्रत अणगार अभी भी प्रतिज्ञा के प्रति कुछ सजग थे। अतः याचना नहीं की, किंतु शाम तक भी केसरिया मोदक का योग नहीं बैठा। कथा भाग में तो यहाँ तक कहा गया है कि उनके मस्तिष्क का संतुलन बिगड़ गया। रात्रि के समय में केसरिया मोदक, केसरिया मोदक कहते हुए सड़क पर चल रहे थे। एक श्रावक जिसका नाम जिनदास था। उसने उनकी आवाज सुनी तो खिड़की खोलकर देखा। अरे ये मुनिराज! मेरे घर पर भी आए थे, मोदक बहुत थे, किन्तु सूझते नहीं थे। तुरन्त नीचे उतरा। वंदन नमस्कार किया। पधारो अन्नदाता! थाल भरे पड़े थे। फ्रिज में रखे हुए नहीं थे। अन्नदाता कृपा करावें। मुनिराज की आँखों में चमक आ गई, नसों में खून दौड़ने लगा। मुनि ने पातरा निकाला, श्रावक ने थाल उठाकर उड़ेल दिया। मुनि ने झोली समेटी उठाकर जाने के लिए तत्पर हुए ही थे कि- मत्थेण वंदामि। समय कितना हुआ है ? श्रावक ने पूछ लिया मुनि ने आकाश देखा। समय देखने के लिए आकाश देखते ही हौंसला पस्त। रात्रि के 12 बज रहे थे। ओहो! भयंकर

अपराध हो गया! अब रात्रि में गुरु के पास कैसे जाऊँगा ? श्रावक ने कहा जाने की जरूरत नहीं है। मेरी पौषधशाला में विश्राम करिये। सुबह पधार जाना। मुनि आत्मस्थ हुए, चिंतन चला, आत्मनिंदा- गर्हा के गहरे भावों से कर्म कलिमष धुलने लगा। चार घनघाती कर्मों को क्षय करके कैवल्य ज्योति प्रकट कर ली।

कहने का मतलब है साधु बनने के बाद भी, जरूरी नहीं कि विचारों में उतार-चढ़ाव न आये। एक भवतारी तो क्या, चरम शरीरी के मन में भी उतार-चढ़ाव आ जाते हैं। रथनेमि भी राजमती से कहते हैं मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। योगी भी मनुष्य जन्म को दुर्लभ कहता है और भोगी भी। रथनेमि ने कहा- भुक्तभोगी बनकर फिर संयम ले लेंगे। वह चरम शरीरी आत्मा उसी भव में मोक्ष जाने वाली थी, पर उतार-चढ़ाव आ गया।

बंधुओं! यह बात समझ लें कि उतार-चढ़ाव स्वाभाविक है। ये आ सकते हैं। ऐसी स्थिति बन सकती है, किन्तु मन यदि वस्तुतः धर्म में रम रहा है, परमात्मा के चरण से जुड़ रहा है तो धर्म पुनः आकर्षित कर लेगा। चुम्बक की प्रकृति आप जानते ही हैं। परमात्मा के चरण रूपी चुम्बक के पास रहें तो जिनत्व प्रकट हो सकता है। उन्हें भूल गए तो जिनत्व कैसे प्रकट होगा? चुम्बकत्व लोहे को ही आकर्षित करता है क्योंकि वह सजातीय है। चुम्बक सोने को आकर्षित नहीं करता। वैसे ही परमात्मा के चरण रूपी चुम्बक से आत्मा आकर्षित हो सकती है। क्योंकि वह सजातीय है। इसमें यह अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए कि स्तुति रंग पूर्वक की गई हो, उसमें भंग नहीं पड़ा हो तो सफलता अवश्य मिलेगी। इसी विश्वास के साथ यदि आत्मा का परमात्मा के साथ सम्बंध जोड़ने का प्रयत्न होता है, तो फिर देखिये क्या आनंद आता है। किन्तु यह केवल शब्दों से नहीं हो सकता। कोई चाहे अन्धकार चला जाय, प्रकाश प्रकट हो जाए। किन्तु शब्दों से अंधकार मिटाने का प्रयत्न करेगा तो कोई लाभ नहीं होगा।

आपने सुना होगा- सासूजी ने कहा, देखो बीन्दणी! मैं जा रही

हूँ, अंधकार को घर में घुसने मत देना, ध्यान रखना। वह चली गई। सूर्य रहा तब तक तो घर में प्रकाश रहा, किन्तु सूर्यास्त के बाद धीरे-धीरे घर में अंधेरा व्याप्त होने लगा। बहूजी ने उठाई लाठी और भगाने लगी अंधेरे को “भगो-भगो यहाँ से क्या भाग जाएगा अंधेरा ? नहीं भागेगा। वैसे ही यदि हम शब्दों से बोलते रहे, मन से अन्यों का अनिष्ट करते रहे और वचन के गुलछर्रे उड़ाते रहे तो उस परमात्मा की भक्ति से अंतर नहीं भीगेगा। अंतर को भिगोने के लिए मन की गहराइयों में अवगाहन करना होगा। सासूजी प्रतिक्रमण करके लौटी तो देखा बीन्दणी जी पसीने से लथपथ हो रही है। पूछने लगी-क्या हुआ। बहू बोली-आपने कहा था अंधकार को मत घुसने देना। इतनी पिटाई कर दी पर ये जिद्दी है भागता ही नहीं। जमकर बैठ गया। वहाँ तो अंधकार जमकर बैठ गया था हमारे जीवन में तो कहीं वह जमकर नहीं बैठा है ? उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है- **“जावंतऽ विज्ञा पुरिसा, सव्वे ते दुक्ख संभवा’**। अविद्या-भाव अंधकार है। उससे दुःख ही सम्भव है। अविद्या कैसी है ? उसका रूप कैसा है ? कभी देखा है क्या ? अविद्या अज्ञान है। वह इन आँखों से दिखने वाली नहीं है। अविद्या से सारे दुःख होते हैं।

एक तरफ भक्ति में बैठते हैं, दूसरी ओर अविद्या का शिकंजा है। इसलिए भक्ति करते-करते फिसल जाते हैं। परिणाम स्वरूप भगवान की भक्ति सही तरीके से नहीं कर पाते हैं। रात्रि में प्रश्न चला कि - धर्म क्रिया से संसार का व्यवहार चल सकता है या नहीं ? उसका उत्तर उस समय भी दिया गया था, यथाप्रसंग अभी भी स्पष्ट कर देता हूँ। श्रावक को धर्म में स्थित व धर्म से वृत्ति करने वाला कहा गया है। तदनुसार यदि धर्म से वृत्ति करें तो क्या संसार का व्यवहार नहीं चल सकता है ? निश्चित चल सकता है, बशर्ते धर्म पर दृढ़ आस्था और विश्वास हो।

श्रावक को क्यों कहा धर्मवृत्ति से जीने वाला ? इसलिये कि धर्म जिनेश्वर के चरण पकड़ने वाला कर्म नहीं बांधता है। अब दो बातें हैं या तो हमने चरण ग्रहण नहीं किया और यदि किया है तो कवि की बात सही नहीं है क्योंकि हमारे कर्म बंध जाते हैं। साधु बनने के बाद भी कर्म बंध होता है। तो फिर यह बात कैसे कह दी गई ....

## धर्म जिनेश्वर चरण ग्रह्या पछी

### कोई न बाँधे हो कर्म जिनेश्वर .....।

ये तो कवि ने कहा है किंतु आचारांग सूत्र से इसी बात की पुष्टि होती है। उसमें कहा है- **समत्तदंसी न करेइ पावं** भी सम्यक्त्व दर्शी पाप नहीं करता। हम सम्यक्त्व दर्शी बने हैं या नहीं, पाप हो रहा है या नहीं, कैसे करेंगे इसकी समीक्षा ? सम्यक्त्वदर्शी चौथे गुणस्थान वाला भी होता है, वह पृथ्वी आदि की हिंसा करता है तथा श्रावक के भी संकल्पपूर्वक त्रस जीवों को मारने का त्याग होता है, स्थावर जीवों को नहीं। इसलिए तत्संबंधी पाप का बंध होना ही है। फिर शास्त्र में ऐसा क्यों कहा कि सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता है ? बन्धुओं! पूर्वापर संबंध जोड़े बिना शास्त्र का आशय समझा नहीं जा सकता । शास्त्र में **समत्तदंसी न करेइ पावं** से पहले 'तम्हाऽतिविज्जो परमंति णच्चा' आया है, इस पूरे वाक्य का अर्थ होता है कि इसलिए वह अति विद्वान, तत्व के रहस्यों को जानने वाला, मोक्ष को जानकर, सम्यक्त्वदर्शी बनकर पाप नहीं करता है। अतः यह कथन विशिष्ट ज्ञानी पुरूषों की अपेक्षा से किया गया है, सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा से नहीं। सम्यक्त्वदर्शी के विचारों में परिवर्तन आ जाता है। हम बारीकी से चिंतन करें, धर्म हमारे भावों से जुड़ा है। ऐसी स्थिति में क्रिया एक होने पर भी भावों के आधार पर उसके परिणाम में भिन्नता होगी। जैसे एक डॉक्टर ऑपरेशन करने के लिए चाकू पकड़ता है और एक गुण्डागर्दी करने वाला भी चाकू पकड़ता है। क्या दोनों के समान क्रिया लगेगी ? नहीं। एक सामान्य गृहस्थ रसोई बनाता है और श्रावक रसोई बनाता है, दोनों में अंतर है या नहीं ? है। इसलिए कहा गया है कि यदि धर्म जिनेश्वर के चरण ग्रहण कर लिये तो उसका लक्ष्य बदल गया। विचार बदल गए। उसका कारण है कि उसका जुड़ाव उधर नहीं रहा। उसका आकर्षण चुंबक की ओर हो गया। कर्म-बंध कब होता है ? कर्म-बंध तो हर समय हो रहा है, पर रस कब पड़ता है ? रस आवे तो ही रस पड़ता है। रस आवे तो रस पड़े, रस नहीं आवे तो रस ज्यादा नहीं पड़ता। एक काचरे को छीला उसमें क्या आया ? रस

आया ? क्या परिणाम हुआ ? खंदक ऋषि की खाल खींच ली गई। रस आया तो कर्मों में रस पड़ा परन्तु यदि अध्यवसायों में रस नहीं है तो कर्मों में भी गहरा रस नहीं पड़ेगा। कर्म लूरे होंगे। जैसे सूखी मिट्टी हाथ में लग जाय और झटकावे तो झड़ जायेगी पर यदि काली मिट्टी है, मिट्टी में पानी मिल गया है तो वह हाथ में चिपक जायेगी। वैसे ही रस आया तो संसार में फंसेगा। इसलिए कहा है -

**अहो समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।  
अर्न्तगत न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिल्लावे बाल॥**

वह संसार में रहता है, पर उससे ऊपर उठकर जीता है। यदि साधु बन गया, साधु बनने के बाद निर्लिप्त नहीं है, तो साधु जीवन में रहकर भी पाप से टल नहीं सकता, यह विषय उत्तराध्ययन सूत्र के पाप श्रमण अध्ययन से जाना जा सकता है। कमल कीचड़ में पैदा होता है, पर कीचड़ से निर्लिप्त रहता है, वैसे ही मोह में रहकर मोह का तांता जुड़ा हुआ न हो। विजय सेठ और विजया सेठानी के लिए कहा गया है, एक ने व्रत लिया कृष्ण पक्ष का, एक ने प्रतिज्ञा ली शुक्ल पक्ष की। दोनों की हो गई शादी। कविताओं और कथाओं में बताया जाता है कि एक पलंग पर सोते थे, पर बीच में नंगी तलवार रखकर। वह भी किसलिए ? इसलिये कि कभी भी विचारों में उथल-पुथल न हो। मोह के बीच रहकर भी कितनी दृढ़ता से रहे ? संसार में रहे पर जल कमलवत् रहे। जिसने धर्म जिनेश्वर के चरण ग्रहण कर लिये वह फिर कीचड़ से लिप्त नहीं हो सकता।

बंधुओं! हम चिन्तन-मनन करें, संसार में रहते हुए क्रिया करनी पड़ेगी, पर क्रिया मात्र लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य उन्नत हो, सोच हो कि सांसारिक कार्य कमजोरी के कारण करने पड़ रहे हैं। पाँच महाव्रत स्वीकार नहीं कर सकता इसलिए सांसारिक दायित्व का निर्वाह करना पड़ रहा है। दायित्व निर्वाह करते हुए दृष्टिकोण जहाँ टिका होगा, गति उस ओर होगी। आपने देखा होगा लता को। लता के छोर को यदि खम्बे से बांध दें तो वह ऊपर उठती चली जाएगी। यदि उसी छोर को कुएँ में उतार दिया जाय तो वह उसी ओर उतरती चली जाएगी। यही बात हमारे साथ है। हमारे मन को, अध्यवसायों को, विचारों की लता को नीचे कषाय

के, विषयवासना के कूप में उतार दिया तो वह नीचे उतरेगी। यदि लक्ष्य ऊँचा रहा तो एक दिन उन्नत अवस्था तक पहुँच जाएगी, क्योंकि दृष्टिकोण का अन्तर हो गया। इस आधार पर जीवन का व्यवहार बन गया तो फिर परिवर्तन आएगा।

बहु ने लकड़ी लेकर पिटाई की पर अंधकार को भगा नहीं पाई। सासूजी आई, स्विच ऑन किया और क्या हो गया ? अंधकार भाग गया। हमारा दृष्टिकोण विषय वासना की ओर न हो, धर्म की ओर हो जैसे शक्कर पानी में घुलकर मिठास पैदा करती है, वैसे ही धर्म हमारे जीवन में घुल जाए तो फिर आप देखेंगे कि धर्म पंगु है या सशक्त है। आज हमने धर्म को पंगु बना दिया है। इसलिए युवा सोचता है कि जो स्वयं आधारहीन है वह हमें क्या तिराएगा ? हमने धर्म की तेजस्विता को स्वीकार नहीं किया है उसे अपने भीतर नहीं उतारा है। जब तक धर्म की अच्छी तरह पहचान न हो तब तक उसे अनुभव नहीं कर पाएंगे। यह नहीं सोचे कि धर्म पंगु है। हम स्वयं की पंगुता से धर्म को पंगु बना रहे हैं या बना देते हैं। परिणामस्वरूप धर्म की तेजस्विता को स्वीकार नहीं कर पाते। सेठजी आ रहे थे, पैरों से ठोकर लगी और दवात की स्याही गिर गई। मुनीम जी से कहने लगे, बीच में रख दी, ध्यान नहीं रखते हो ? यदि वही दवात मुनीमजी से गिर जाती तो कहते- दिखता नहीं है ? आज व्यक्ति अपनी गलती दूसरों पर थोपने लगता है। गलती तो स्वयं की होती है दूसरों पर थोप दी जाती है, क्योंकि - **समरथ को नहीं दोस गुसाई** वैसे ही हम स्वयं की गलती न देख, धर्म पर उसे आरोपित कर देते हैं। हम चलाएं तो चले, नहीं तो नहीं चले कह कर अपनी शूरवीरता दिखा देते हैं। पंगु धर्म से कौन जुड़ना चाहेगा ? वस्तुतः धर्म-तेजस्विता से युक्त है, पर हम पचा नहीं पाते हैं, क्योंकि जठराग्नि तेज नहीं है। उसे तेज करिये। जैसे जब आपकी शारीरिक जठराग्नि मंद हो जाती है तो आप चूर्ण चटनी लेकर उसे तेज करते हैं वैसे ही त्याग-प्रत्याख्यान की चूर्ण - चटनी से धर्म की तेजस्विता को पचावें, तभी जीवन में रौनक आयेगी और मोक्ष की ओर गति होगी। युवावर्ग भी उस तेजस्वी धर्म से अवश्य जुड़ेगा। इसमें जरा भी संशय नहीं है।



## बहे जीवन में आनन्द-स्रोत

**धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सूँ.....।**

धर्म जिनेश्वर का स्मरण वस्तुतः धर्ममय बनने के लिए है। धर्ममय बनने का यह सिद्धांत किसी पर आरोपित नहीं किया जा सकता। धर्म हमारे भीतर समाहित है, हमें उसे बाहर की ओर प्रकट करना है। बहुत बार हम धर्म को समझकर चलते हैं, किंतु धर्म जितना समझने का विषय नहीं है, उतना जीने का विषय है। धर्म को समझकर हम उसे दिल में स्थापित करें। यह आवश्यक है क्योंकि वीतराग देवों की आज्ञा दिल से स्वीकार की जाती है, दलील से नहीं। हम धर्म को तर्क से सिद्ध करना चाहें, तो यह हमारी नासमझी है। तर्क से तो पदार्थ सिद्ध किए जाते हैं, तर्क की गति हर जगह पर नहीं होती। तर्क की अपनी एक सीमा होती है।

आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा गया है-

**तक्का तत्थ ण विज्जई, मई तत्थ ण गाहिया**

धर्मक्षेत्र में तर्क और बुद्धि का प्रवेश नहीं हो सकता। हम मोक्ष जाना चाहते हैं, पर यदि कोई कहे कि यहाँ पर बैठे हुए मोक्ष को सिद्ध कर दो, तो हम कितना भी प्रयास करें, लेकिन तर्क के प्रयोग मात्र से हम मोक्ष को सिद्ध नहीं कर पाएंगे। वीतराग देवों की वाणी दिल से स्वीकृत हो, जिसमें कोई तर्क नहीं हो, तो ही हमारी गति आगे बढ़ पाएगी। इसके लिए श्रद्धा और समर्पण भाव की आवश्यकता होती है। कवि आनन्दघन जी कहते हैं-

**बीजो मन मन्दिर आणू नाही.....।**

हमें दूसरी फालतू बातें मन में नहीं लानी चाहिए। इसे एक दृष्टांत से समझें। एक सुशील कन्या है, जिसका किसी से सम्बन्ध तय हो गया है। वह कन्या अपने प्रिय के अलावा किसी अन्य पुरुष के प्रति अपने मन में अपनत्व भाव नहीं लाती है और अगर लाती है, तो उसके लिए वह लाभप्रद अवस्था नहीं हो सकती। इसी प्रकार हमारी जो सन्मति है, श्रद्धा है, वह कहती है कि यह मेरे कुल की रीति है कि एक से सम्बन्ध जुड़ जाने के बाद मैं किसी दूसरे को वरती नहीं हूँ। कोई दूसरा मेरे मन-मस्तिष्क में आ नहीं सकता। यदि कोई दूसरा वहाँ पर प्रवेश करेगा तो मैं वहाँ नहीं रहूँगी.....। आप जानते हैं कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती, एक म्यान में एक ही तलवार रहेगी। मन-मस्तिष्क में या तो श्रद्धा-सन्मति रहेगी या दुर्मति रहेगी। हम दोनों को एक साथ रखना चाहें तो नहीं रख पाएँगे! हम बहुत बार धर्म के विषय में सोचते हैं, विचार करते हैं, पर कुछ स्पष्ट निर्णय नहीं कर पाते हैं। विचारों के जाल में उलझे रह जाते हैं। भगवान् ने यह नहीं कहा है कि आँखें मूँद कर धर्म में कूद जाओ। जब हम विचार कर सकते हैं, निर्णय कर सकते हैं, तब हमें निर्णय भी करना चाहिए। सत्य को देखने-परखने के बाद ही स्वीकार करना चाहिए।

प्रश्न है सत्य को कैसे जानें? सत्य तो अदृश्य है। अगर हम कहें कि हमने वीतराग वाणी सुनी है, भगवान् के शास्त्रों को सुना है, इसलिए हम सत्य को जानते हैं, तो यह हमारा भ्रम है। वीतराग वाणी और शास्त्रों को सुनने मात्र से सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती। अभवी भी शास्त्रों को सुनता है, पढ़ता है। बस.....सुन-पढ़ लेता है और क्या करता है? संयम ले लेता है। पर संयम भी कहाँ ले पाता है, संयमी पोशाक अवश्य पहन लेता है। व्यवहार में हम कह देते हैं, कि संयम ले लिया है पर अन्दर क्या है, इस बात को तो विशेष ज्ञानी ही जान सकते हैं। हम तो व्यक्ति के व्यवहार को देखते हैं और सत्य मान लेते हैं। अन्यथा क्या कारण है कि गौतम स्वामी जैसी कठोर क्रिया कर लेने के बाद भी वह अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाता। यह सन्मति है या दुर्मति है?



विचार करें, म्यान में क्या रही हुई है? दुर्मति या सन्मति? व्यवहार में तो वह कठोर आचरण कर रहा है और कोई कुछ सुनाने को कहे तो वह पूरा का पूरा शास्त्र सुना सकता है, पर इतना होते हुए भी जैसे मगसेलिया पत्थर पर, चाहे पुएकलावर्त मेघ कितना ही बरसे, लेकिन उसमें एक भी बूँद नहीं समाती। वैसे ही आचरण के पूरे तामझाम के बाद भी अभवी में सत्य की एक बूँद भी समाविष्ट नहीं हो पाती क्योंकि उसने जो सुना, देखा या जैसा वह आचरण कर रहा है, वह सत्य रूप नहीं है। वह अनेक लोगों को बोध देकर उन्हें मोक्ष मार्ग पर आरुढ़ कर देता है, परंतु स्वयं मोक्ष मार्ग से बहुत दूर रह जाता है। उसका लक्ष्य रहता है कि दुनिया के सामने ऊपरी महिमा बनी रहे। लोगों को लगे कि उसके नेश्राय में बड़ी संख्या में साधु है और देखने वालों पर भी उसकी पूरी धाक जम जाये।

विचार करें कि स्वयं गौतम स्वामी की क्या हालत थी? वे पाँच सौ शिष्यों को लेकर चल रहे थे, सभी को धर्म का बोध दे रहे थे और वेदों का ज्ञान करवा रहे थे। प्रेरित किये जाने पर वे आधी रात को भी वेदों की ऋचाएँ बोल सकते थे। वेद, उपनिषद, अष्टांग निमित्त की जानकारी रखने वाले थे। एक बार यज्ञ करवाते समय देखा कि देव आ रहे हैं, सोचा, ये देव मेरे पास आ रहे होंगे परन्तु कुछ देर बाद देखा तो देवों के विमान आगे जाते दिखे। गौतम के मन में संशय हुआ, विमान आगे किधर जा रहे हैं ? कहीं वे रास्ता भूल-भटक तो नहीं गए हैं ? परन्तु जब गौतम को मालूम पड़ा कि वर्द्धमान नाम का एक साधक आया है और देव वहाँ जा रहे हैं, तो उनके मन में विचार आया कि मुझ से बढ़कर ज्ञानी कौन हो सकता है ? कुए का मेंढ़क यही सोचता है कि दुनिया इस कुए जितनी ही है, वैसे ही इन्द्रभूति सोचते हैं कि दुनिया में मुझ-सा ज्ञानी कोई और नहीं है। पूरे विश्व में (जितना उन्होंने माना था) मेरी धाक है। वह कौन जो मेरे अनुष्ठान में आए हुए देवों को आकर्षित कर रहा है। मेरे सामने कौन टिक सकता है? इन्द्रभूति यह विचार करते हुए भगवान के निकट पहुँच रहे थे, परन्तु जैसे-जैसे भगवान् के निकट पहुँच रहे थे, जैसे-जैसे भगवान के निकट पहुँचने लगे, उन का मन

ऊँचा-नीचा होने लगा। वे सोचने लगे कि मैं उनसे क्या चर्चा करूँगा ? क्या कहूँगा ? कई विचार उनके मन में उभर रहे थे, परंतु जैसे ही भगवान ने कहा "इन्द्रभूति गौतम! तो मानो उनकी नींद खुल गई। मेरा नाम? ये मेरा नाम कैसे जानते हैं? मैंने तो इनको कभी देखा नहीं है। लेकिन दूसरे ही पल मन में आया कि मेरा नाम जगत प्रसिद्ध है और प्रसिद्ध व्यक्ति को कौन नहीं जानता। इन्होंने मेरा नाम कहीं सुना होगा और किसी ने मेरा हुलिया बताया होगा, उसी के आधार पर इन्होंने मुझे जाना होगा। मेरी प्रसिद्धि के आधार पर मेरा नाम जान लिया हो। किन्तु जब भगवान् ने कहा-इन्द्रभूति गौतम ! तुम इतने लोगों को उपदेश देते हो, फिर भी आत्मा के विषय में संशय लेकर चल रहे हो, कि आत्मा है या नहीं। इसमें भी तुम्हें संशय है। भगवान् ने इन्द्रभूति की दुखती रग पकड़ ली। रग पकड़ी और इन्द्रभूति नरम हो गए। उन्होंने सोचा कि इस साधक ने मेरे भीतर की रग कैसे पकड़ ली? मेरे इस भाव को तो मेरे शिष्य भी नहीं जान पाए हैं। आज तक मेरे मन में रहे हुए इस संशय को कोई नहीं जान पाया है फिर इन्होंने कैसे जाना ?

अवश्य ही इन्हें कोई सिद्धि प्राप्त है अन्यथा ये मेरे मन की बात कैसे जान लेते ? नाम तो फिर भी जाना जा सकता है, लेकिन मेरे मन के संशय को इन्होंने कैसे जाना ? संशयशील व्यक्ति कितना भी चले, लेकिन वहीं का वहीं रह जाता है, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाता है क्योंकि वह हर समय संशय में उलझा रहता है। नीतिकारों ने भी कहा है-

### संशयात्मा विनश्यति

संशयात्मा का विनाश होता है। आत्मा का विनाश होता है क्या? नहीं होता है। यहाँ विनाश का तात्पर्य है- पतन की ओर जाना, संसार की ओर जाना। भगवती सूत्र में कांक्षा मोहनीय के विषय में बताया गया है-जो मत-मतान्तरों के प्रति संशयशील है, वह दर्शन मोहनीय का वेदन करता हुआ, संशय के कारण मिथ्या मोह की ओर अग्रसर होता है? संशय में हर समय नहीं जीना चाहिए। यह संशय भी दो प्रकार का होता है। एक संशय अज्ञान में उलझाये रखने वाला होता है तो दूसरा

संशय ज्ञान को बढ़ाने वाला होता है। गणधर गौतम स्वामी के प्रकरण में बताया गया है-

### जाय सङ्गे जायससंगे, जाय कोउहले

गौतम स्वामी को संशय होता तो उसी समय वे भगवान के चरणों में पहुँचकर समस्या का समाधान कर लेते। समाधान मिलने के साथ ही वे स्पष्ट कह देते कि जैसा आपने कहा है, वैसा ही है और निशंक हो जाते।

### तमेव सच्यं निसंकं, जं जिणेहि पवेइयं।

एक बात भली प्रकार समझ लेने की है कि कहीं न कहीं तो हमें विश्वास करना ही होगा। श्रद्धा करनी ही पड़ेगी। मन में थोड़ा-सा भी संशय है, तो गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती। मार्ग पर गाड़ी बढ़ा रहे हो और मन में शंका हो कि क्या ठीकाने पहुँच पाएंगे या नहीं, कहीं आगे सर्प तो नहीं है, खाई तो नहीं है, चोर-लुटेरे तो नहीं है। रोज जिस मार्ग से आते-जाते हैं, उसमें शंका नहीं होती है। किंतु जब हम किसी अपरिचित मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, तो मन में शंका होती है। क्या पता कैसा मार्ग होगा ? कहीं चोर लुटेरे आ गए तो क्या होगा ? हम विहार करते हैं, परिचित मार्ग हो तो हम निशंक होकर चलते जाते हैं। अनुमान से बता देते हैं, कि अब मंजिल इतनी दूरी पर है और मार्ग अनजान हो तो ?

एक बार की बात है। हमें बताया गया कि गोलछा फार्म से मेहता फार्म दो किलोमीटर की दूरी पर है। हम चलते गए। ढाई किलोमीटर चले गए, लेकिन मेहता फार्म आ ही नहीं रहा था। मेरा मौन व्रत था। मैंने इशारे से एक श्रावक जी से पूछा कि मेहता फार्म अब कितना दूर है ? श्रावक जी कहने लगे कि अभी और आगे है। मैंने सोचा कि कहीं बापू नगर तक तो नहीं ले जा रहे हैं ? दो किलोमीटर बताया था और निकला चार किलोमीटर। यदि पहले ही जानकारी होती तो संशय नहीं होता। निशंक भाव से चलते। मार्ग जाना हुआ और परिचित हो, तो उसमें दिक्कत नहीं आती है। अनजान रास्तों में दिक्कत आती है।

संसार का मार्ग हमारा जाना हुआ है। नरक गति, देव गति, मनुष्य गति और तिर्यच गति के रास्ते हम सब के देखे हुए हैं। एक भी रास्ता हमसे छूटा नहीं है। हम अनन्त बार चार गतियों में भ्रमण कर चुके हैं, सब रास्ते जाने हुए हैं। हम गाड़ी बहुत तेज चलाते हैं। हम जानते हैं कि सड़क खाली है। सौ, एक सौ बीस, एक सौ तीस की स्पीड से गाड़ी चलाते हैं। हम अपनी जीवन की गाड़ी को संसार में बहुत तेज गति से घुमा रहे हैं, लेकिन उसी गाड़ी से मोक्ष में जाना हो तो गाड़ी रुक जाती है, क्योंकि हम मोक्ष का रास्ता जानते ही नहीं है। थोड़ा बहुत ज्ञान कर भी लिया, तो गाड़ी शूँ..... शूँ.... कर के वहीं रह जाएगी। आगे बढ़ नहीं पाएगी क्योंकि मार्ग परिचित नहीं है, संशय से डॉवाडोल स्थिति बन जाती है। तभी तो गाड़ी आगे बढ़ नहीं पाती है। इसलिए भगवान ने गौतम स्वामी से जो तब तक गणधर नहीं बने थे, कहा इन्द्रभूति! तू आत्मा तत्व पर संशय कर रहा है। इन्द्रभूति यह सत्य स्वयं प्रकट नहीं कर पा रहे थे क्योंकि उन्होंने अपनी एक छवि बना रखी थी। उन्हें भय था कि यदि प्रकट कर दिया तो मेरे शिष्यों के बीच उनकी छवि धूमिल पड़ जाएगी, नाम खराब हो जाएगा। वे अहं को छोड़ नहीं पा रहे थे। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है -

### संजोगा विप्पमुक्कस....।

अहं की पकड़ मजबूत होती है। पकड़ लेकर चलोगे तो कितने ही कपड़े बदल लो, कुछ भी होने वाला नहीं है। भीतर गाँठ पड़ी हुई है, गाँठ को खोलेंगे नहीं तो आनन्द नहीं आएगा। घर-घर में पाइप लाइन बिछी हुई है। लोग उसमें प्लास्टिक का पाइप लगाकर पानी को आगे ले आते हैं। उसमें कहीं बीच में अगर कहीं मोड़ आ जाये, तो थोड़ा पानी रिसकर भले ही चला जाये, लेकिन पानी की पूरी धारा नहीं जा पाती। वैसे ही हमारे भीतर गाँठ पड़ी रही तो आनन्द और शांति का स्राव गति नहीं कर पाएगा।

शल्य तीन बताए गए हैं- माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्या दर्शन शल्य। पहले माया को बताया है, फिर निदान और अंत में मिथ्या

दर्शन को बताया है। माया भारी है या मिथ्या दर्शन का काँटा ज्यादा भारी है? मिथ्या दर्शन का काँटा ज्यादा भारी है। पर माया का काँटा जल्दी नहीं निकलता। यह लम्बे समय तक पड़ा रहता है। इसलिए पहले मिथ्या दर्शन का काँटा निकलता है, फिर निदान का निकलता है तब जाकर कहीं माया शल्य निकलता है। शल्य रूप ये काँटें, ये गाँठें, जब तक नहीं निकालेंगे, तब तक हम आध्यात्मिक जीवन का आनन्द नहीं ले पाएंगे। हम साधना में बैठे हैं, लेकिन आनन्द नहीं आ रहा है। साधना में आनन्द क्यों नहीं आ रहा है ? क्योंकि हमने संयोग का त्याग नहीं किया है। ग्रन्थी का विमोचन नहीं किया है। अभी तक भीतर में गाँठ पड़ी हुई है। यदि साधना से प्राप्त होने वाले आनन्द को पाना है, तो संयोग का परिहार करो, त्याग करो। संयोग बाह्य भी होते हैं और आभ्यान्तर भी। बाह्य संयोग छोड़ना बहुत सरल है किन्तु आन्तरिक संयोगों को छोड़ना कठिन है जैसा कि संत तुलसीदास जी ने कहा है-

**कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह ।**

**मान, बड़ाई, ईर्ष्या, तुलसी दुर्लभ ऐह॥**

कंचन अर्थात् धन-सम्पत्ति एवं परिवार को तो एक धक्का लगा कर छोड़ देंगे। जिस स्त्री के चंगुल में फँसे हैं वह भी हम रोकन नहीं पायेगी, उसे भी छोड़ देंगे। किंतु मान, बड़ाई, ईर्ष्या इन भावों को छोड़ना कठिन है। भगवान ने भाव संयोग पर प्रहार किया है-

**जे ण वंदेण से कुप्पे वंदिओ ण समुक्कसे।**

जो आपको वंदना-नमस्कार नहीं करे, उस पर कुपित मत होना कि मेरे जैसे साधु को वंदन नहीं करता और यदि बड़े-बड़े सेठ तिक्खुतो के पाठ से विधि पूर्वक झुक-झुक कर वंदन करें, तो फूलकर कुप्पा मत होना। भगवान ने कहा है कि ऐसा संयोग भी कर लिया तो गाड़ी सही मार्ग पर नहीं बढ़ पाएगी। गाड़ी को बढ़ाना है, तो स्वयं को भाव-संयोगों से ऊपर उठाओ। द्रव्य-संयोग से तो ऊपर उठ सकते हैं, लेकिन भाव से ऊपर उठना भी जरूरी है। संसार में लिप्त श्रावक भी कई बार द्रव्य से ऊपर उठ जाता है, पर भाव संयोग को तजना उसके लिये भी दुष्कर होता है।

आनन्द श्रावक ने देखा कि मेरे पुत्र सक्षम हो गए हैं, तो परिवार वालों को इकट्ठा किया, भोजन-सत्कार आदि से संतुष्ट किया, फिर सभा बैठी और आनन्द श्रावक कहने लगे देखिए, आज तक आप लोग पारिवारिक, धार्मिक, राजनीतिक कार्यों में मुझसे सलाह लेते थे, किंतु अब मैं इन बातों में सलाह नहीं दूँगा। धार्मिक कार्यों में सलाह दे सकता हूँ किंतु बाकी विषयों में मैं सलाह-परामर्श देने वाला नहीं हूँ। आपको जो भी परामर्श लेना है उसके लिये मैं ज्येष्ठ पुत्र को अधिकृत कर रहा हूँ। आप इनसे सलाह-मशवरा कर सकते हैं। मैं तो अब भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार करके पौषधशाला में रहूँगा ”वह इतना सब कुछ छोड़ने के बाद भी साधु नहीं बन सका। श्रावक की ब्यारहवीं प्रतिमा भी स्वीकार कर ली। ब्यारहवीं प्रतिमा में लोच करवाया जाता है, नहीं तो उस्तरा फिरा सकते हैं। गोचरी से जीवन निर्वाह करना होता है, जो व्यक्ति उपसर्गों से नहीं घबराता है, लेकिन साधु भी नहीं बनता है, वह श्रमण भूत कहलाता है, 11वीं प्रतिमाधारी श्रावक की संवासानुमति खुली होती है। उसके अनुमोदन का थोड़ा-सा सांभाग खुला होता है। भगवान कहते हैं कि साधना में आगे बढ़ना है, तो भाव संयोग दूर करना होगा। संयोगों से दूर हटोगे, तो हल्के बनोगे। हल्के बने तो ऊपर उठोगे।

तुम्बे का वर्णन आता है। एक तुम्बे पर मिट्टी का लेप लगा कर रस्सी लपेटकर और धूप में सुखाया गया। दूसरी बार पुनः मिट्टी का लेप लगा कर, फिर रस्सी लपेटकर धूप में सूखने को रख दिया। इस प्रकार की विधि आठ बार की गई, इससे तुम्बा मोटा व भारी हो गया। तब उसे पानी में डाला गया, तो वह डूब गया। पानी में डूबे तुम्बे पर से ज्यों-ज्यों लेप हटता गया, वह हल्का होकर पानी के ऊपर आ गया। वैसे ही संयोगों से फूलकर कुप्पा हो गए तो डूब जाओगे। संयोग हल्के होंगे तो ऊपर उठेंगे। बस इतनी-सी बात भगवान महावीर की मान लें और भाव-संयोग दूर करने का प्रयत्न करें।

आपने रामायण की कथा सुनी होगी। कैकेयी राम को पुत्र

मानकर चल रही थी। उसने राम को राजा बनाने की घोषणा सुनी, तो बहुत खुश हुई। जितनी कौशल्या और सुमित्रा को खुशी थी, उससे अधिक खुशी कैकेयी को हुई क्योंकि उस समय तक उसके मन में भेदभाव की रेखा नहीं खिंची थी। सभी पुत्रों के प्रति उसके समान भाव थे। कौशल्या भी मानती थी, कि मेरे चार पुत्र हैं। सुमित्रा और कैकेयी भी चारों पुत्रों को अपना मानती थी। किंतु मंथरा के कारण रामायण बन गई।

यही हमारे साथ भी हो रहा है हम उस मंथरा को देखते हैं, लेकिन हमारे भीतर भी मंथरा बैठी हुई है। हमारे भीतर ही रामायण के सारे पात्र उपस्थित हैं। राम, रावण, दशरथ, ये सब हमारे भीतर भी हैं। दशरथ के मन में भी स्वार्थ था। वातावरण ही ऐसा बना हुआ था कि वे सशंक थे। वे सोचते थे कि सत्ता मेरे हाथ से निकल जाएगी। कैकेयी से शादी के बाद राज्य के मुख्य-मुख्य पदों पर कैकेयी का आधिपत्य था। अब मन में डर होने लगा कि मैं राम को राजा बनाना चाहता हूँ, लेकिन कहीं वह भरत को उत्तराधिकारी बनाकर गृहयुद्ध नहीं छेड़ दे। भरत अभी ननिहाल गया हुआ है, मौका अच्छा है। राम को राजा बना देना चाहिए। दशरथ इस नीति से चल रहे थे। हमारे भीतर भी यथास्थिति ऐसी विचारधाराएं चलती रहती हैं। इधर राम का विचार चल रहा था कि मैं केवल अयोध्या में सिमट कर नहीं रहना चाहता। मुझे पूरी मानव जाति का उद्धार करना है। आज मानव जाति पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उनको अत्याचारों से ऊपर उठाना है। इस प्रकार सभी पात्र अपनी अपनी सोच को लेकर चल रहे थे। कैकेयी के मन में भी कोई गलत भाव नहीं थे। कैकेयी के मन में विपरीत भाव मंथरा ने भरे। उसके संयोग से दूध में नींबू का रस मिल गया। दूध से भरे कटोरे में नींबू का रस पड़े तो ? दूध फट जाता है। तब कैकेयी को भी लगा, कि ये सब मेरे खिलाफ साजिश है। राम भी राजा बनना चाहता है और दशरथ भी उसे राजा बनाना चाहते हैं तभी ताबड़-तोड़ सारा कार्य किया जा रहा है। मंथरा की बातें उसे यथार्थ लगने लगी। उसके दिमाग में मंथरा की बातें पुनः-पुनः उभर कर आ रही थी सुना आपने! राम राजा बन रहे हैं।

कैकेयी ने कहा- क्या हो गया। कोई भी राजा बने।

उसके मन में, राम दशरथ कौशल्या किसी के भी प्रति कोई संशय का, अविश्वास का भाव था ही नहीं। परन्तु मंथरा ने उस असंशय और विश्वास की स्थिति को तोड़ने के लिए कहा- तुम भोली हो। जब तक कौशल्या राजमाता नहीं बनी है, तभी तक वह तुम्हारी सखी है और अपनत्व-भाव रख रही है। जिस दिन वह राजमाता बन जायेगी तुम्हें ठोकरें खानी पड़ेंगी।

कैकेयी के मन में संशय का बीज पड़ गया। वह चाहकर भी मंथरा के कथन पर अविश्वास नहीं कर पा रही थी। बल्कि उस पर मंथरा की बातों का असर गहरा पड़ने लगा था। वह संक्लेशित हुई और उसे सारा संसार स्वार्थी लगने लगा। यह है भाव संयोग। मैं मूल भाव बताना चाहता हूँ कि हमारे भीतर भी भाव संयोग जुड़ते हैं। वे प्रेम रूपी दूध के बर्तन में नींबू निचोड़कर उस दूध की गुणवत्ता को समाप्त कर देते हैं।

एक बार एक बहिन ने देखा कि उसकी देवरानी रसोई बना रही थी। उसने दो फुलके उतारे। दोनों देवरानी-जेठानी के एक-एक लड़का था। दोनों के बच्चे साथ आए और जल्दी रोटी माँगने लगे। एक कहता था पहले मुझे दो और दूसरा कहता था पहले मुझे दो। देवरानी ने एक फुलका जिसमें कुछ जलने से काले दाग लगे थे, जेठानी के लड़के को दे दिया और अच्छा फुलका अपने लड़के को दे दिया। रसोई के बाहर खड़ी जेठानी ने देख लिया कि इसने मेरे बेटे को जला हुआ फुलका दिया है और अपने बेटे को अच्छा फुलका दिया है। मेरा लड़का जला फुलका क्यों खाएगा ? उसका माथा गर्म हो गया। उधर देवरानी के मन में आया था कि जला हुआ फुलका अपने बेटे को क्यों दूँ। यही भाव जेठानी के मन में भी आ गए। मेरे पति भी कमाते हैं, मेरा बेटा जला हुआ फुलका क्यों खाएगा? वह आई और अपने बच्चे के हाथ से थाल लिया और फेंक दिया। ऐसी स्थिति में क्या घर में प्रेम बना रह पाएगा ? देवरानी कह भी दे कि मुझसे गलती हो गई मुझे माफ कर दो, तो भी जेठानी कहेगी जानती हूँ, जानती हूँ। मैं अब तक यही समझ रही थी कि तुम



दोनों में अन्तर नहीं समझती हो, लेकिन मैं रोज देख रही हूँ कि तुम मेरे बेटे को जला फुलका दे रही हो “इस प्रकार बात भले रोज की नहीं एक दिन की ही हो, तो भी उसे रोज की बात बनाकर ग्रंथि पैदा कर ली जाती है। ऐसी ग्रंथि आत्म-कल्याण में सहायक नहीं बनती। इसलिए हम भगवान महावीर की शिक्षा स्वीकार कर भाव संयोगों को दूर करने का प्रयत्न करें।

भाव संयोग क्या है ? काम, क्रोध, मद, लोभ ये सब भाव संयोग हैं। भगवती सूत्र में एक दृष्टांत आया है। एक बहिन रसोई बनाती है, वह चिमटे का प्रयोग करती है। जिसे आप चिंपिया भी कहते हैं, चिमटा तो बाबाजी रखते हैं। जो कुछ लम्बा होता है। चिंपिया छोटा होता है। चिंपिया लोहे से बना होता है। लोहे में जीव है या नहीं ? जो जानते हैं, वे कहेंगे कि उसमें पहले पृथ्वीकाय के जीव थे। खदान में निकलने वाला ताँबा, सोना, लोहा ये पृथ्वीकाय रूप हैं। उस लोहे को खदान से निकाला गया, तपाया गया, फिर उस लोहे से चिमटा बना। तपाने से उसके जीव मर गए। अब उसमें जीव नहीं है। भगवान से पूछा गया कि उस चिमटे से आग का स्पर्श किया जाता है, बहिनें छाना पकड़ती हैं, तो अग्नि के जीवों की हिंसा होती है, उस बहिन को तो पाप लगेगा, चिमटा जिसमें अभी जीव नहीं है, जीव पहले थे, जो मरकर दूसरी योनि में चले गए। वे जहाँ भी गये हों, उस चिमटे से होने वाली हिंसा की क्रिया का पाप क्या उनको भी लगेगा ? भगवान ने फरमाया लगेगा। आप सोचते होंगे कि कैसे उसे पाप लगेगा ?

मान लो आपने एक बन्दूक खरीदी और सरकार से उसका लाइसेंस भी प्राप्त कर लिया। आपने उस बन्दूक में कारतूस डाले और दीवार पर टाँग दिया। आप कहीं चले गए। आप बन्दूक को साथ-साथ लिए नहीं फिरते। बन्दूक घर पर पड़ी है, उसमें गोलियाँ भरी पड़ी हैं। पीछे से कोई व्यक्ति आपके घर में आया। उसने बन्दूक उतारी और उससे ठाँय-ठाँय करके तीन-चार हत्याएँ कर दीं। अब बताइए, सरकार किसे पकड़ेगी ? आप भले कितना भी कहें कि मैंने हत्याएं नहीं की हैं। मैं तो

उन्हें जानता भी नहीं हूँ, लेकिन क्या सरकार आपकी बात मानेगी? सरकार देखेगी कि लाइसेंस किसके नाम का है। जिसके नाम का लाइसेंस है, सरकार उसी को पकड़ती है। वैसे ही वे जीव शरीर से निकल गए हैं, लेकिन अब भी उनका शरीर से ममत्व छूटा नहीं है। भगवान कहते हैं कि वे जीव ममत्व रूप का लाइसेंस लेकर गए हैं। शरीर पर ममत्व रखकर मर गए, फिर चाहे किसी भी योनि या मति में चले जाएं, क्रिया तो लगेगी। सरकार तो फिर भी पकड़े या नहीं पकड़े, पर कर्म के परिणाम से नहीं बच पाएंगे।

अब सोचें, हमने अनेकों भवों के लाइसेंस इकट्ठे किए हैं। हमने तो लाइसेंस की थप्पियाँ लगा रखी हैं। यदि उन्हें हम जमाएँ तो घर में जगह खाली नहीं बचे। हम अनंतानंत जन्मों से शरीर धारण किए हुए हैं। शरीर, परिवार, धन, वैभव, मकान के लाइसेंस इकट्ठे कर के दूसरी योनि में चले जाते हैं। हमने सारे लाइसेंस अपने पास रखे हैं। लाइसेंस अर्थात् ममत्व भाव, अविरति भाव। हम मरते दम तक भी ममत्व छोड़ते हैं क्या? मरते दम तक चाबियाँ कमर में लटकी रहती हैं। अब हम बुद्धिमान हो गए हैं, ये चाबियाँ कौन संभाले, इसलिए चाबियों को लॉकर में रख देते हैं, ताकि हमारा धन सुरक्षित रहे। फिर भी हमें पूरा विश्वास नहीं है कि हमारा धन सुरक्षित रह ही जाएगा। किसी के नाम पर रख दो, सरकार वहाँ भी पहुँच जाती है। मरते दम तक ममत्व नहीं छूट पाता है। ममत्व छूटता है संथारे से। इस शरीर को लोग जलाते हैं, जिससे वायुकाय, अग्निकाय आदि जीवों की हिंसा होती है। उसकी क्रिया भी उसे लगेगी, चाहे वह कहीं भी जाएँ। चाहे नरक गति में जाएँ या देव गति में जाएँ, चाहे मनुष्य या तिर्यच गति में जाएँ। मोक्ष में जाएँ या संथारा कर ले तो बात अलग है अन्यथा जैसे आपने पाइप लाइन ले रखी है, घर में बिजली का कनेक्शन ले रखा है। अब आप उपयोग में लें या न लें, लेकिन सामान्य मिनिमम चार्ज तो आपको देना ही पड़ेगा। वैसे ही जब तक ममत्व भाव है, तब तक क्रिया लगेगी। अब चाहे वह व्यक्ति कहे कि मैं बन्दूक लेकर थोड़े ही जाता हूँ, मैंने हत्याएँ नहीं की हैं। पर वह

बचेगा नहीं। यदि भविष्य में ऐसी स्थितियों से बचना चाहे तो उसका उपाय है, कि सरकार के पास लाइसेंस जमा करा दो। उसने लाइसेंस कोर्ट में जमा करा दिया तो वह बच सकता है। अब उस बंदूक से भविष्य में भी हत्या हो, तो सरकार उसे पकड़ेगी क्या? उसे पकड़ने का कोई मतलब ही नहीं है। उसने तो अपना पिंड छुड़ा लिया। वह संयोग से ऊपर उठ गया। एक भिन्न रूप में यह स्थिति आध्यात्मिक आनंद के साथ भी है।

यदि आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त करना है तो भाव संयोगों से ऊपर उठना होगा। उस अवस्था में घर पर भी रहें, तो कोई बात नहीं है, किंतु यदि संयोग भाव नहीं छूटा और कचरा भर-भर कर इकट्ठा कर लिया तो वहाँ भी कीटाणु पैदा होंगे। फिर वे कीटाणु कुलबुला कर आत्मा को सतारेंगे, तब हम सोचेंगे कि ये मुझे सताते क्यों है? तो पहले कचरा इकट्ठा किया ही क्यों? मकड़ी जाला बुनती है और स्वयं अपने ही जाले में फँसकर मरती है। भगवान की शिक्षा है, भाव संयोगों से स्वयं को ऊपर उठा लो, फिर आनन्द रुक नहीं पाएगा। वह प्रवाह अब तक गाँठ के नीचे रुका हुआ था। गाँठ हटी कि आनन्द का प्रवाह बहने लगेगा। जीवन को सरल बनाना है, तो भगवान की इस शिक्षा को आत्मसात् कर लो। आत्मा से ऊपर उठोगे और इन भावों से चलोगे तो जीवन में आनन्द का स्रोत प्रवाहित होने में देर नहीं लगेगी। जीवन को उन्नत बनाने वाली वीतराग वाणी के अनुरूप धर्म को जीवन में ढालने का प्रयत्न करेंगे तो जीवन का मंगलमय अवस्थान प्राप्त होगा।



## सहज न तजना भाव संयोग

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सूँ.....।

**ती**र्थकर देवों की वाणी भव्यात्माओं को संसार सागर से तिराने वाली है। संसार में हम क्यों बंधे हुए हैं ? संसार का स्वरूप क्या है ? हम यह सोचते हैं कि बाहर जो दिख रहा है, वह संसार है। हाट, हवेलियाँ, मोटर-कारें आदि जितने पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं हम उन्हें संसार मानकर चल रहे हैं। पर वस्तुतः संसार यह नहीं है। हम संसार को अपने भीतर बसा कर चल रहे हैं। भीतर संसार बसता है, तो बाहर के संसार की सृष्टि होती है। भीतर संसार न हो तो बाहर भी उसकी सृष्टि नहीं हो सकती और तब बाहर का संसार हमें रोक भी नहीं सकता। बाहर की जितनी अवस्थाएँ हैं, सभी अरिहन्तों के ज्ञान में रही हुई हैं और सिद्धों के ज्ञान में भी रही हुई हैं। फिर भी उनका संसार के पदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, पर हम इन्हें अपने साथ जोड़ लेते हैं। जोड़ने से जो सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, वही संसार है। उसी संसार के कारण हमारी आत्मा अनादिकाल से संचरण करती रही है।

एक तरफ देखें तो कोई व्यक्ति बंधा हुआ नहीं रहना चाहता। किसी से कहें कि सामायिक का नियम ले लो तो पाली वाले भले न कहें, क्योंकि यह धर्म नगरी है, किन्तु अधिकांश भाई कहेंगे “मैं सामायिक कर तो लूंगा पर बंधन में नहीं पड़ना चाहता।” बंधन में नहीं पड़ना चाहता, बहुत सुन्दर बात है। आत्मा बंधना नहीं चाहती। पर हम बंधन में पड़े हैं या बंधन-मुक्त हैं ? इस संबंध में कभी सोचा ? किसी व्यक्ति के

हाथ-पैर बांधकर जेल में डाल दें तो हमें वह बंधा हुआ दिखता है। यदि वह हमारा मित्र या परिचित हो तो हमारे मन में आता है, बेचारा बंधन से निकल जाए। हमारे विचार करने से वह बंधन मुक्त नहीं हो जाएगा, लेकिन हम यह भी देखें कि हमें बंधन से प्रेम है या नहीं ? बंधन तो आपकी मुँहपत्ति पर डोरी हैं, ये भी बंधन है। ये बंधन गहरे बंधन नहीं हैं। गहरे बंधन हमारी भावधारा में बसे हुए हैं। इसलिए भगवान ने कहा है - **संयोगा विप्पमुक्कस्स.....।**

मुक्त होना है तो पहले भीतर जिन बातों को संयोजित कर रखा है, जिन्हें जोड़ा है, उनसे मुक्त हो जाओ। संयोग-युक्त जीवन जीते रहे तो दुःख से युक्त ही रहोगे। यदि संयोग ही दूर हो जाएँ तो फिर घर छोड़ने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। घर अपने आप छूट जायेगा। फिर घर के प्रति लगाव पैदा ही नहीं होगा। तब किसी भी पदार्थ को छोड़ने की आवश्यकता नहीं रहेगी। वे पदार्थ खुद ही छूट जाएंगे। संयोगों से ऊपर उठो। उन्हें गहराई से देखने की आवश्यकता है, क्योंकि ऊपर से देखते हैं तो लगता है कुछ है ही नहीं। बारीकी से देखें तो पता चलेगा कि संयोग हमारी भावधारा में बसे हुए हैं। भाव-धारा में प्रवाहित होने वाले विचारों की कैसी अवस्था बनती है, इसे समझें।

आर्द्रकुमार जिस समय दीक्षित हुए, बतलाया जाता है, उस समय देववाणी हुई, तुम्हारे भोगावली कर्म अभी शेष हैं, तुम्हारे साधु जीवन स्वीकार करने का समय नहीं आया है। परन्तु आर्द्रकुमार का वैराग्य उस समय इतना प्रबल था कि उन्होंने देववाणी की परवाह नहीं की। अंतरंग भाव था कि मैं साधु जीवन बिना नहीं रह सकता। कोई नहीं मिला तो स्वतः ही कपड़े पहन लिये, कितना उत्कृष्ट वैराग्य था। देववाणी कह रही थी अभी नहीं बाद में लेना, किन्तु उनका दृढ़-संकल्प कि दीक्षा अभी लेनी है। इसी प्रकार नमिराजर्षि जब चूड़ियों की खनखनाहट से प्रतिबोध को प्राप्त कर साधु जीवन स्वीकार करने को तैयार हुए, तब शकेन्द्र ने सोचा, संभवतः ये केवल ऊपरी राज्य छोड़ रहे हैं, भीतर बसा हुआ राज्य नहीं। इसलिए जरा परीक्षा कर लूँ। देव ने आकर कहा -

राजन ! क्या कर रहे हैं ? जिस मिथिला को आपका इतना संरक्षण मिला, जहाँ आपने बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ बनवाई, राजभवन बनवाये। उस मिथिला में आग लग गई है, पहले उसकी रक्षा तो करें। इस पर नमिराजर्षि ने उत्तर दिया -

### मिहिलाएँ डज्ज माणीए ण मे उज्जइ किंचणं।

मिथिला के जलने से मेरा क्या जल रहा है ? मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है। शकेन्द्र ने देख लिया, इनकी भावधारा में मिथिला का चित्र नहीं है। वस्तुतः इनका मिथिला व राज्य के प्रति लगाव नहीं है। इस प्रकार यदि अंतरंग से संयोग टूट जाता है तो मोक्ष दूर नहीं रहता।

मोक्ष प्राप्ति में कितना समय लगता है? ज्यादा समय नहीं लगता है। ज्यादा समय ही नहीं बल्कि मुक्ति पहले यहीं प्राप्त होती है, यदि हम संयोग जन्य भावधारा से स्वयं को मुक्त कर लें। आर्द्रकुमार भोगवाली कर्मों के कारण कालान्तर में पुनः गृहस्थ बन गये। कई वर्षों तक गृहस्थ जीवन में रहें। पुनः विचारों में परिवर्तन आया, साधु बनने के भाव जागृत हुए। धर्मपत्नी से कहा- मैंने बहुत भोग, भोग लिया है, अब विचार है कि साधु बन जाऊँ। कथा बहुत को मालूम होगी। पत्नी ने चरखा मँगवा लिया ताकि उसमें मन लगा रहे। मन भटके नहीं। वह चरखा लेकर सूत कातने लगी। बच्चे ने आकर पूछा- मम्मी ! क्या कर रही हो ? हालांकि उसने मम्मी नहीं कहा होगा, यह आप की भाषा है। माँ, क्या कर रही हो ? वह कहने लगी। तुम्हारे पिता संसार में नहीं रहना चाहते, साधु बनना चाहते हैं, इसलिए मैं क्या करूँगी। अकेला जीवन बड़ा दुरुह होता है, इसलिए मैंने यह नया संयोग जुटाया है। विचार करें तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक व्यक्ति संयोग जुटाने में लगा है। यात्रा करनी हो तो साथ चाहिए, अकेले रास्ता पहाड़ हो जाता है। अकेले दिन काटना मुश्किल हो जाता है और पाँच लोग गप्प लगाने बैठें तो मालूम ही नहीं पड़ता कि कितने घण्टे निकल गए, इसलिए व्यक्ति संयोग जुटाता है। हमारी जिन्दगी आराम से बसर हो, इसलिए संयोग हम जुटाते हैं। संयोगों को अनादिकाल से अब तक जुटाते रहे हैं और आगे भी यदि

इसी तरह जुटाते रहे तो कितना काल और बिताना पड़ेगा, यह केवली के ज्ञान का विषय है। यदि संयोग जुटाना बंद नहीं किया तो मुक्ति भी नहीं मिल पाएगी। जब संयोग टूटेंगे तभी मुक्ति का द्वार हम देख पाएंगे। तभी हम मुक्ति में प्रवेश कर पाएँगे या यों कहूँ तभी मुक्त हो पाएँगे। संयोग एक प्रकार का बंधन है। संयोग की जितनी गहराई होती है, उतना ही गहरा बंधन भी होता है। विचार करें तो स्पष्ट होगा कि कुए या खदान में जैसी गहराई नहीं है, जैसी गहराई हमारे भीतर समायी हुई है। तो माता कहने लगी, वे साधु बन जाएँगे, इसलिए यह संयोग जुटा रही हूँ। बालक कहने लगा- मैं नहीं बनने दूँगा। माता ने जो सूत काता था, उसे लेकर पिता के पैरों में लपेट दिया और तुतलाती भाषा में कहने लगा- मैंने पिताजी को बांध लिया है। अब पिताजी हमें छोड़कर कैसे जाएँगे ? आर्द्रकुमार ने सोचा - जितने आंटे लगे हैं, उतने वर्ष तक संयम नहीं लूँगा। वे धागे क्या संगीन लोहे की बेड़ियां थीं, जो आर्द्रकुमार उन्हें खोल नहीं पाये ? वह बन्धन बाहर का नहीं, अन्दर का था। इसलिए ये संयोग जब-तक बने रहेंगे तब तक मुक्ति भी नहीं मिलेगी। ये संयोग ही व्यक्ति के तनाव का कारण होते हैं। यदि संयोग न हो तो चिन्ता भी पैदा नहीं होगी।

आपके घर पुत्र का जन्म हुआ। बड़ा हुआ तो चिन्ता होने लगी। शादी कैसे करूँ ? एक समय था जब लड़की की शादी की चिन्ता होती थी, पर अब लड़के के लिए चिन्ता होती है। लड़की मिलना कठिन हो गया है। भारत की सर्वे रिपोर्ट में बताया गया है कि लड़कियों की संख्या कम हो गई है। लड़के ज्यादा हो गए हैं। चाहे लड़का हो या लड़की, शादी का चिन्तन चलता रहता है और दूँढते-दूँढते दो-तीन साल निकल जाते हैं। इधर उम्र लंबी हो रही है, तो जो चिन्तन का रूप था, वह चिन्तन न रह कर चिन्ता बन जाती है। इतने समय तक सोच रहे थे, लेकिन अब जब देखा कि संयोग जुड़ नहीं पा रहा है, तब चिन्ता का विषय बन गया। चिन्ता जन्म लेते ही मन मस्तिष्क को सालने लग जाती है।

आपने देखा होगा- लकड़ी में दीमक लग जाती है। ऊपर से तो

लकड़ी सुन्दर नजर आती है, पर दीमक उसे भीतर ही भीतर खोखला करती रहती है। वैसे ही चिन्ता के दीमक से जीवन में खोखलापन आ जाता है। किन्तु चिन्ता पनपी कैसे ? संयोग से। संयोग न रहें तो फिक्र ही ही नहीं।

**फिकर सब को खात है, फिकर सबका पीर।**

**जो फिकर का फाका करे, उसका नाम फकीर।।**

जो चिन्ता में घुलता रहता है, वह साधु भी बन जाए तो ऐसे व्यक्ति के लिये दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है -

**पए-पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसंगओ।।**

जो संकल्पों-विकल्पों में उलझ रहा है, वह पग-पग पर खेदित होगा। वह साधु जीवन कैसे पालेगा ? वह तो साधु बनकर भी साधुता का आनन्द नहीं उठा पायेगा। आचारांग सूत्र में भी इस बात को इस रूप में कहा- 'अट्टे लोए परिजुवण्णे' हमारा यह लोक अर्थात् मन लोक, जो आर्त्तभाव से जीर्ण अवस्था में पहुँच गया है, वह धर्म को कैसे झेल पाएगा? वह जीर्ण है तो कितनी भी सुन्दर वाणी प्राप्त हो जाये, वह धर्म को झेल नहीं पाएगा, क्योंकि आर्त्तभाव से मस्तिष्क में वह क्षमता नहीं रह पाती कि उसे वह झेल सके। जैसे अलमारी में दीमक लगा हुआ तरखता है और आप उस पर एक ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र कोश ररख' दें तो, क्या होगा ? वह टूट जाएगा। तरखता नीचे आ जाएगा। कोश के एक भाग में तो विषय बहुत थोड़े आये हैं। उसे सात भागों में आबद्ध किया गया है। उनमें भी प्रभुवाणी पूर्ण नहीं आ पाई है, क्योंकि माना जाता है कि अम्बारी सहित हाथी डूब जाये, इतनी सूखी स्याही लें, सारे समुद्रों का जल हो, पूरी भूमि का कागज हो और सारी वनराशि की लेखनी बना ली जाये.....तो भी लिखी न जाय इसलिए मैं कह रहा हूँ कि सात भागों में आ नहीं सकती। वह तरखता एक ग्रंथ भी नहीं झेल पाता, तो हमारे मन में दीमक लग जाए तो क्या वह इतनी वाणी झेल पायेगा ? नहीं, क्योंकि उसका मन-मस्तिष्क तो अन्य दिशा में आर्त्तभाव में लगा होगा।



महात्मा बुद्ध ने कहा- भूखे व्यक्ति को उपदेश की आवश्यकता नहीं है। यदि दे भी दिया तो कारगर नहीं होगा। उसके भीतर तो लाय लग रही है, वह पहले पेट भरेगा तब सुन पाएगा। ऊपर से सुनाओ तो भले सुना दो पर उसके अन्दर घुसेगा नहीं। बल्कि ऐसे समय में उसे कोई उपदेश दे तो उसके मन में द्वेष भाव जगेगा कि मैं तो भूख से मर रहा हूँ, और ये उपदेश झाड़ रहे हैं। इसलिए भगवान ने कहा- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को भी देखो। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव उचित हों, तो उपदेश दो। हर समय उपदेश देने लगे तो वह व्यर्थ जाएगा। वही बात यहाँ पर भी घटित होती है। वीतराग वाणी कितनी भी प्रस्तुत की जाए पर यदि हम ग्रहण नहीं करें तो उस प्रस्तुतीकरण की क्या सार्थकता ? निरन्तर व्याख्यान सुनते हैं, संत सुनाते हैं, फिर भी संत बनने की भावना नहीं जागती। कहाँ गाँठ अटकी है? हम भीतर की गाँठ खोल नहीं पाते। भगवान ने उसके लिए एक ही शब्द का प्रयोग कर दिया - संयोग।

ये संयोग ही रोकने वाले हैं। कोई कहे परिवार वाले आज्ञा नहीं देते। यदि हमारा वैराग्य पक्का है। भीतर के संयोगों को हमने पतला कर दिया है तो कोई हमें रोकने वाला नहीं है। रुक रहे हैं तो हम अपनी मर्जी से, अपने मन से रुक रहे हैं। अपने भीतर के उत्साह को जागृत नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि संयोग पतले नहीं हो पा रहे हैं।

संयोग यदि पतले हो जाये, तभी हम निर्वाण प्राप्त कर पाएंगे और आनंद को उपलब्ध कर पाएंगे। आर्द्रकुमार ने कहा- जितने आँटे लगे हैं, उतने समय तक दीक्षा नहीं लूंगा। जब आँटों को गिना तो कितने आँटे निकले ? बारह, आप बोल रहे हैं बारह, पर यह बतायें कि ये आँटे बाहर के थे या भीतर के ? जब-तक भीतर के आँटें नहीं छूटेंगे, तब तक बाहर का संयोग छूटना मुश्किल है और कभी बाहर के संयोग छोड़ भी दिये किन्तु भीतर का संयोग पड़ा रह गया तो क्या मुक्ति हो जायेगी ?

भरत चक्रवर्ती का बाहर का संयोग नहीं छूटा था, पर भीतर के संयोग छूट गए थे, अतः अरिसा भवन (आदर्श भवन यानी ऐसा भवन जिसमें अनेक दर्पण लगे हों), में खड़े-खड़े केवलज्ञान हो गया। शृंगार

की वेदिका पर खड़े होकर भी भौतिक शृंगार से परे हटकर आत्मिक शृंगार से नाता जोड़ लिया। स्थूलिभद्र चातुर्मास करने कहाँ गये थे ? कोशा वेश्या के महल पर, मन में संयोग नहीं था, अतएव कोशा को भी श्राविका बना दिया। नहीं तो जिसके यहाँ उन्होंने वर्षों तक रातें काली की थीं, क्या वापस कोशा में निमग्न नहीं हो जाते ? किन्तु मन की भावधारा इतनी प्रबल हो चुकी थी कि अब उस पर कुछ भी लेप नहीं लग सकता था।

पहले लोग जब सीमेंट-चूना काम में नहीं लेते थे। गारे (मिट्टी) के आँगन होते थे, गोबर से भी लीपते थे, यदि उस पर वर्षा हो जाती तो उसे झाड़ू से साफ नहीं करते थे, क्योंकि वैसा करने से या तो गोबर साफ हो जाता या झाड़ू गीली हो जाती थी। उसकी सफाई नहीं करते थे, बल्कि सुखाने का प्रयत्न करते थे। किन्तु अब सीमेंट की, मार्बल, टाइल्स वगैरह की फर्श होती है। उन पर कितना ही पानी गिरे, वे पानी को सोखते नहीं हैं। इसी तरह ऊपर की छत यदि टीन के पातरे की हो तो यदि उस पर पानी गिरे तो वह भी सोखता है क्या ? ढाल हो तो पानी बह जायेगा, किन्तु पानी मिट्टी की तरह पत्थरों के भीतर प्रविष्ट नहीं होता है। वैसे ही हम अपनी भावधारा को संगीन बना लें, फिर कितना भी विषय-वासना का पानी पड़े, हमारे भीतर प्रविष्ट नहीं हो पायेगा और यदि गारे की भाँति ही हमारी भावधारा रही तो विषय-वासना का पानी पड़ा नहीं कि गीला हुआ नहीं और गीला होकर फूल जाएगा, फटफट करने लगेगा।

स्थूलिभद्र ने संयोग से अपने आप को निर्लिप्त बना लिया था। इसलिए कोशा की रंगशाला में चातुर्मास व्यतीत करने पर भी उन पर वहाँ का रंग नहीं चढ़ा। तभी तो कहा जाता है-

**धार तलवार नी सोहिली, दोहिली,**

**चउदवाँ जिन तणी चरण सेवा।**

तलवार की धार पर चलना फिर भी सरल है, किन्तु तीर्थकर

देवों की वीतराग वाणी के अनुरूप जीवन को ढालना कठिन है, दुरूह है। संयोगों से ऊपर उठना कठिन है। कभी-कभी व्यक्ति सोचता है साधु बनना सरल है। कपड़े बदले और बन गये साधु। ऐसे लोग सोचते हैं कि-

**माथा मुड़ाया तीन गुण, मिटे माथ की खाज।  
रोटा मिले चिकणा, लोग कहे महाराज।।**

सिर की खाज मिट जायेगी, खाने को अच्छा मिलेगा। बन गये साधु हो जाएगा निर्वाण। यदि इन्हीं भावों में रमते रहे तो मोक्ष नहीं मिलेगा। ये भी संयोग ही है। भगवान ने यह नहीं कहा कि मेरे साधु या मेरे श्रावक बन जाओ, मोक्ष में पहुँचा दूँगा। भगवान ने कहा- संयोग से जो ऊपर उठेगा, वह सिद्ध होगा। जरूरी नहीं कि वह मेरा साधु हो या श्रावक, अन्य लिंग वाला भी सिद्ध हो सकता है। साधु की पोशाक नहीं है, फिर भी सिद्ध हो सकता है। तीर्थकरों का धर्म, गुण-मूलक धर्म है। इसमें जाति या वर्ग का भेद नहीं है। यह नहीं कि जैन बन जाओगे तो मोक्ष मिलेगा। भगवान ने अपनी शरण में आने को नहीं कहा, जैसा कि गीता में कहा गया है “**सर्वधर्मान् परित्यज्य एक मां शरणं ब्रज।**” अर्थात् सारे धर्मों को छोड़कर एक मेरी शरण में आ जाओ। भगवान ने अपनी शरण में आने को नहीं कहा। स्वयं के पुरुषार्थ के बिना जिनेश्वर भगवान उद्धार नहीं कर सकते। पुरुषार्थ स्वयं को ही करना होगा। गीता के पाठ का आध्यात्मिक अर्थ यह हो सकता है कि सारे इन्द्रिय धर्मों को छोड़कर एक आत्मा की शरण में आ जाओ।

गौतम स्वामी पास में बैठे थे और भगवान ने कह दिया, गौतम! तू जिन को नहीं देख रहा है। आप मुझे देख रहे हैं, मैं आपको देख रहा हूँ। शरीर के माध्यम से बाह्य आकृति को जरूर देख रहे हैं, लेकिन आत्मा को नहीं। हाँ, हाथ पैर हिल रहे हैं। यदि आत्मा नहीं होती तो ये नहीं हिल सकते थे। नहीं तो खंभा भी हिलना चाहिये। यह पाटा भी खड़ा हो जाना चाहिए। खैर, आज मशीनों के माध्यम से वह भी हो जाता है। आपने देखा होगा, एक्स-रे कराते समय, वहाँ की टेबल खड़ी हो जाती है, आड़ी हो जाती है। यदि कोई कहे कि जीव में ही हलन-चलन की क्रिया होती है, इसलिए टेबल के खड़ी होने से, आड़ी होने से उसमें भी

जान होनी चाहिए। यह सोच सही नहीं है। टेबल यंत्र के माध्यम से हिलती-डुलती है। यंत्र से उसका संचालन होता है, अपने आप हलन-चलन नहीं होता। हलन-चलन तो पुद्गल में भी होता है, पर वह व्यवस्थित रूप से नहीं होता। मैं बोल रहा हूँ, आप सुन रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं। आप सुन रहे हैं, यह मैं अनुभव कर रहा हूँ। यह बिना आत्मा के नहीं हो सकता। संवेदन आत्मा के माध्यम से ही होता है। आप इस प्रकार तत्व विज्ञाता बन उसके अनुसार जीवन बनाये। फिर आप स्वयं अनुभव करेंगे कि भगवान की वाणी हमें अनंत संयोगों से ऊपर उठाकर मुक्ति पथ पर ले जाने वाली है। उस वाणी की गहराई में उतरने का प्रयत्न करना चाहिये।

कभी-कभी ऐसी विचारणा भी सुनने में आती है कि शरीर ही आत्मा है। शरीर भिन्न आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। दार्शनिक जगत् में ऐसी विचारणा चार्वाक दर्शन की मानी गई है। पर वस्तुतः ऐसा माना जाए तो मृत शरीर में भी आत्मा होनी चाहिये, क्योंकि शरीर तो वहाँ पर भी विद्यमान है। शरीर आत्मा एक ही तो जीवित शरीर और मृत शरीर ऐसा भेद किस आधार से करेंगे। यदि शरीर नाश से आत्मा का नाश माना जाए तो वह भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि शरीर के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति होती है, परन्तु सिद्धान्तिक दृष्टि से ऐसा होता नहीं है। शरीर आत्मा से भिन्न है। आत्मा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। आत्मा का शरीर के साथ केवल संयोग है। ऊपर से दिखने वाला यह औदारिक शरीर है। इसको छोड़ देने पर आत्मा को अशरीरी नहीं कह सकते, क्योंकि भीतर दो शरीर तेजस और कार्मण रहे हुए हैं, जब तक उन्हें नहीं छोड़ेंगे तब तक अशरीरी नहीं हो सकते। इन शरीरों को छोड़े बिना मुक्ति भी नहीं होगी। हम ऊपर की चीज देखते हैं, ऊपर से शरीर छूटा तो मान लेते हैं कि शरीर छूट गया परन्तु भीतर में उसका बीज बना रहता है, जिससे पुनः नया शरीर बना लिया जाता है।

इस विषय को सरलता से समझने के लिए तत्त्वतः चिंतन करें। एक व्यक्ति उपवास करता है, लेकिन उसे उपवास में भी खाने की

संज्ञा हो जाती है। ऊपर से उपवास है, पर भीतर संज्ञा मौजूद है, उसे हम देख नहीं पाते। साधु के पाँच महाव्रत होते हैं। उसमें मैथुन और परिग्रह का त्याग होता है, परंतु साधु में आहार, भय, संज्ञा के साथ-साथ मैथुन और परिग्रह संज्ञा भी होती है। आप विचार में पड़ सकते हैं कि जिसने जीवनपर्यन्त के लिए मैथुन-परिग्रह का त्याग कर दिया, अन्य महाव्रतों के साथ ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को भी स्वीकार किये हुए हैं, ऐसी स्थिति में उनमें मैथुन व परिग्रह संज्ञा कैसे होगी? यदि उक्त संज्ञाएँ होती हैं, तो क्या उन महाव्रतों में दोष नहीं लगेगा ?

बंधुओं ! संज्ञा का अर्थ है- संवेदना। सूक्ष्म संवेदना भी संवेदना के अंतर्गत आती है। साधु को भी क्वचित्-कदाचित् शरीर, उपधि, रूप शिष्य, क्षेत्र आदि के प्रति ममत्व उत्पन्न हो सकता है, संबंध जुड़ सकता है। सूक्ष्म रूप से उत्पन्न ममत्व के ये भाव विस्तार को प्राप्त न करें, इस हेतु से संयम में जागृत मुनि उभयकाल प्रतिक्रमण करते हुए भावपूर्वक स्वयं को इन संज्ञाओं से दूर हटा लेता है, जिससे उनके ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह महाव्रत सुरक्षित बने रहते हैं। इन संज्ञाओं पर नियंत्रण नहीं किया गया तो ये बलवती होकर महाव्रतों में ठेस पहुँचाने वाली बन सकती है। ये महाव्रतों की जो प्रतिज्ञाएँ ली गई हैं। वे उसके मनोबल को सुदृढ़ करने वाली है, किन्तु भावों में, संस्कारों में, पूर्व का संयोग जुड़ा हुआ है। अभी उस प्रकार के कर्म लगे हुए हैं। जाजम के नीचे कचरा पड़ा है, तो कभी उठेगा। आज आपके घरों में आप फलश की लैटरिन बनवाते हैं, जिसका गटर नीचे होता है। वह यदि पैक है फिर भी तो गंध तो आती है। आप सावधानी रखते हैं, यह बात अलग है, किन्तु गटर से गंध आती है। वैसे ही साधु बन गये, किन्तु कर्म तो अभी मौजूद हैं, वे तो उछल-कूद करेंगे ही। जैसे पानी में मेंढक उछल-कूद करते हैं। वैसे ही वे कर्म हमारी भावधारा में अशुभता लाने वाले बनते हैं, पर ऐसा सभी में हो ही, यह जरूरी नहीं है। पर किसी में भी ऐसी संज्ञा नहीं जगे, यह कम संभव है।

छठे गुणस्थानवर्ती साधु के दो भेद किये हैं- शुभ योगी और अशुभ योगी। अशुभ योगी के लिए कहा गया है कि वह आत्मारंभी भी

है, परारंभी भी है और तदुभयारंभी भी है, फिर भी साधु है। क्यों है ? अशुभ भाव अजागरूकता के कारण आरंभ हो जाता है। इसलिए भगवान ने कहा- छट्ठाणवडिया-षट्स्थानपतित कहा है अर्थात् एक साधु से दूसरे साधु के भावों में अनंतगुणा अंतर हो सकता है। एक अनंतगुणहीन शुद्धि वाला हो सकता है, दूसरा उसकी अपेक्षा अनंतगुण अधिक शुद्धि वाला हो सकता है। प्रतिज्ञा सभी के लिए समान है, उसके बावजूद अंतर आ जाता है। अंतर आने का कारण है-हमारी भावधारा और उसके कारण उतार-चढ़ाव होता है। कभी देखा होगा- बायपास सर्जरी होने के बाद अथवा हार्ट की खराबी हो तो डॉक्टर ऊपर ई.सी.जी. मशीन लगाकर उसे देखता रहता है। उसमें धड़कन की गति आती है, ऊपर से हम उस गति को नहीं देख पाते, पर भीतर में वह होती रहती है। वैसे ही भावधारा को ऊपर से जान नहीं सकते, पर भीतर में वह चलती रहती है। सर्वज्ञ के लिए जरूरी नहीं कि वे हमारा ऑपरेशन करके हमारी भावधारा को देखें। वे तो देख ही रहे हैं, पर हम देख पा रहे हैं या नहीं ? जब तक नहीं देख पाएँगे तब तक भावधारा का परिमार्जन, संशोधन नहीं कर पाएँगे। मौन में वचन से बोलना बंद हो गया, किन्तु अंदर भी हलचल नहीं होनी चाहिये। यदि अंदर हलचल हो रही है तो मामला गड़बड़ है। ऊपर शांत है, पर भीतर कीड़े कुल बुला रहे हैं। अभी शांत हैं, पर वे कीड़े परेशान करेंगे। समाधिस्थ नहीं होने देंगे। समाधि के बिना आध्यात्मिक आनंद की अवस्था प्रकट नहीं होगी और मोक्ष तो दूर की बात है, मोक्ष से पूर्व जीवन में समाधि आवश्यक है। जब भाव धारा शांत-प्रशांत बनेगी तब जाकर मोक्ष मिलेगा। अभी तो स्थिति यह है कि हम ध्यान में बैठे हैं और मच्छर आकर काट जाए तो भावधारा विचलित हो जाती है। इसका सूक्ष्म कारण संयोगजन्य भावधारा है। जब-तक ये संयोग बने रहेंगे, तब तक समाधिभाव पूरा नहीं गहरायेगा। जैसे-जैसे संयोग कम होगा, वैसे-वैसे समाधि बढ़ेगी।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के संबंध में सुना होगा। पुत्र, परिवार, राज्य सब कुछ छोड़ दिया, किन्तु एक बात सुन ली। मन विचार उभरें कि-जिन मंत्रियों के भरोसे मैं राजकुमार को छोड़ आया, वे ही विश्वासघात

करने पर उतारूँ हैं। राजकुमार को मारकर राज्य हथियाना चाहते हैं। राजकुमार का संयोग जुड़ा हुआ था, इसलिए ऐसे भाव जगे। मोह के कारण पुत्र-रक्षा के भाव जगे। तीर निकालते गये, भावों की तरकस से, चार सौ निन्यानवे मंत्रियों की घात कर दी। भावों की इस अशुभ अवस्था से नरक के मेहमान बनने की स्थिति बन गई। किसलिए? केवल राजकुमार के प्रति अनुराग से और उसी अनुराग के कारण अशुभ भावों का संचार हुआ। संयोग थोड़ा-सा, पर फैलाव कितना कर गया ! जैसे अमरबेल का छोटा-सा टुकड़ा वृक्ष पर डाल दें तो वह पूरे वृक्ष पर छा जाती है। जैसे छोटी-सी चिनगारी घास के पूरे ढेर में आग लगा देती है, वैसे संयोग को मन में पनपाया तो वह जीवन को बरबाद कर देगा, तहस-नहस कर देगा और जितनी भी उड़ान मोक्ष की ओर भरी थी, उसे भी नीचे लाकर पटक देगा। इसलिए भगवान ने बहुत ही सावधान रहने की बात कही है। श्रावक हो या साधु, जिसने मुक्ति का लक्ष्य बनाया है, उसके लिए भगवान कहते हैं- **‘संयोगाविप्पमुक्कस्स’** कचरे को दबाने का प्रयत्न मत करो, दबाया तो कभी ना कभी उड़ेगा।

**“दाबी दूबी न रहे, रूई लपेटी आग”** आप जानते हैं आग को रूई में लपेट कर रख दें तो आग दबी नहीं रहेगी। शरीर में अनेक रोग दबे पड़े हैं। अभी पुण्यवानी का योग है, इसलिए प्रकट नहीं हो रहे हैं। अभी पुण्य की ताकत है। सारे रोग बुढ़ापे में ही क्यों आते हैं ? जब तक शरीर में ताकत है, तब तक रोग दबे रहते हैं, किन्तु जैसे ही क्षमता घटती है कि वे हमला बोल देते हैं। वैसे ही जब भावधारा कमजोर पड़ती है तब ये सारे शल्य उभर कर जीवन को तहस-नहस कर देते हैं। इसलिए भगवान ने कहा है-दबाओ मत। **“विप्पमुक्कस्स”**-मुक्त करो। यदि इन्हें अलग नहीं किया तो अभी वे भले दबे हैं, पर जरूरी नहीं कि सदा दबे रहें। इसलिए भावधारा को परिमार्जित शुद्ध करने का प्रयत्न कीजिए। यदि संयोगों से स्वयं को मुक्त कर लिया तो फिर हमें जो शांति मिलेगी, उसे कोई भंग नहीं कर पाएगा। संयोग हटेंगे, तभी जीवन धर्म से कृतार्थ बन पाएगा।



## ऐसे जगाएँ ज्ञान चेतना

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सँ.....।

**अज्ञान** का आवरण भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे भीतर रहा हुआ है। हम सोच लेते हैं, हम सम्यक्दृष्टि हो गये। परन्तु यदि आप से पूछ लिया जाये कि सम्यक्दृष्टि ज्ञानी होता है या अज्ञानी ? आप क्या जवाब देंगे ? आप कहेंगे ज्ञानी, किन्तु सम्यक्दृष्टि एकान्त रूप से ज्ञानी नहीं होता, अज्ञानी भी होता है। आपके भीतर विचार उठेंगे कि सम्यक्दृष्टि अज्ञानी कैसे हो सकता है ? पहले हम अज्ञान की परिभाषा जान लें। अज्ञान के तीन रूप बताये गये हैं -

(1) एक अज्ञान तो वह है, जिसका ज्ञान अभी तक हुआ ही नहीं है।

(2) दूसरा अज्ञान है, अल्प ज्ञान होना। ये दोनों ज्ञानावरणीय कर्म से संबंधित है।

(3) और तीसरा है, विपरीत ज्ञान। यह दर्शनमोहनीय कर्म से संबंधित है।

सम्यक्दृष्टि में इनमें से पहला और दूसरा भंग पाया जा सकता है। मान लीजिए हमने किसी एक शास्त्र का ज्ञान किया है, दूसरे शास्त्रों का नहीं, तो उनके विषय में हमारा अज्ञान है। एक व्यक्ति जिसने साइंस का अच्छा ज्ञान कर लिया पर भूगोल का ज्ञान नहीं है तो भूगोल की दृष्टि से वह अज्ञानी है।

स्वामी विवेकानन्द एक विश्वविद्यालय में भाषण देने गये।



भाषण देने के पश्चात् प्रश्नोत्तर के प्रसंग पर विद्यार्थियों ने पूछा- स्वामीजी! क्या आप सभी विषयों में पारंगत हैं ? वे एक क्षण रूके, फिर कहने लगे मैं सभी विषयों को नहीं जानता। आप पूछे कि खेती कैसे करना, हल कैसे चलाना ? तो मैं नहीं जानता । हाँ, संस्कृत-व्याकरण, वेद, उपनिषद् के बारे में बता सकता हूँ। उनका मुझे ज्ञान है।

सम्यक्दृष्टि को सभी प्रकार का ज्ञान हो, तो हल कैसे चलाना, यह उसे आना चाहिए। चौदह पूर्वी का ज्ञान सम्यक्दृष्टि को हो सकता है क्या ? हो सकता है, यह बात अलग है। वैसे भरत क्षेत्र की अपेक्षा से अभी नहीं है। चौथे गुणस्थान में सम्यक्दृष्टि है, किन्तु उसे चौदह पूर्वी का ज्ञान नहीं होता। उसे चौदह पूर्वी के ज्ञान की अनभिज्ञता है या नहीं ? तत्त्वार्थ सूत्र में क्षायोपशमिक भाव में भी अज्ञान को लिया है और औदायिक भाव में भी। औदायिक का तात्पर्य है, ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जो ज्ञान अभी प्रकट नहीं हुआ हो। औदायिक अज्ञान सम्यक्दृष्टि में होता है। श्रावक व साधु में भी होता है। ऐसा अज्ञान बारहवें गुणस्थान तक हो सकता है। जब तक ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है। तब तक यह अज्ञान आत्मा में रहता है, क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय हुए बिना समग्र ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता। जो विपरीत ज्ञान होता है, वह मोह कर्म के उदय से होता है। जैसे धतूरे के बीज को खाने से श्वेत वस्तु भी पीली दिखने लगती है, वैसे ही मोह कर्म के उदय से विपरीत ज्ञान होता है। इसलिए हमें ज्ञान प्राप्त करने से पहले अज्ञान की परिभाषा जान लेना आवश्यक होता है।

आपके सामने दो-तीन दिन से कुछ प्रसंग आ रहा है कि तीन-चार-पाँच तारीख को तेला करना है। एक बात आपके मंत्री श्री सिंघवी जी कह गये। मैंने कहा था कि दया दिन-दिन की नहीं होती। वे कह गये कि हमारे यहाँ जो भी प्रत्याख्यान होते हैं, वे सूर्योदय से लेकर सूर्योदय तक के होते हैं। कहीं भ्रांति में न रह जाये कि तेला करना है और 7:20 या 7:21 को सूर्योदय होता है तो इससे पूर्व दाल-बाटी बनाकर रोजा कर लिया जाये, क्योंकि प्रत्याख्यान तो सूर्योदय से सूर्योदय तक

करना है। ऐसी गलतफहमी में नहीं रहना है। जिन-जिन प्रत्याख्यानों में 'उग्गाए सूरे' आया है, उन संदर्भों में अच्छी तरह से विचार करने की आवश्यकता है। पाठ आया है- 'उग्गाए सूरे' हम विचार करें, कथा भाग में मगध सम्राट श्रेणिक के लिए वर्णन प्राप्त होता है कि वह एक नवकारसी कर ले तो नरक गति टल सकती है। जैसे यदि 7:20 या 7:21 को सूर्योदय होता है तो 7:10 तक खा-पीकर फिर 7:20 से नवकारसी पचकर ले तो ऐसी नवकारसी से नरक टलना संभव नहीं है। जिसने छः-सात बजे उठकर जमकर पानी पी लिया, फिर नवकारसी करें तो एक-दो घण्टे प्यास लगती ही नहीं है। इस प्रकार 'उग्गाए सूरे' का सूर्य उदय से अर्थ लगाना प्रारंभ कर दिया तो स्थिति विचित्र बन जाएगी। एक तरफ जैनियों के लिए कहा जाता है कि जैनी रात्रि में भोजन नहीं करते। अब उनके लिए कहना होगा कि रोजा चल रहा है क्योंकि नवकारसी सूर्योदय से माना है। जब रोजे के दिन चलते हैं, सहरी का टाइम होता है, तो वे कहते हैं- तैयारी शुरू कर दो, सहरी का समय हो गया है। वैसे ही हमारी भी तैयारी शुरू हो जाएगी। सुबह जल्दी उठकर प्रार्थना, सामायिक कहीं रह जायेगी, आरंभ-समारंभ में लग जाएँगे। खा-पीकर उपवासादि कर लेंगे, क्या ऐसी प्रवृत्ति आगम व धर्म के अनुकूल है ? बारीकी से चिन्तन करें कि 'उग्गाए सूरे' के पाठ का भाव क्या है ? 'करेमि भंते' के पाठ में 'उग्गाए सूरे' नहीं है इसलिए उसे कभी भी ग्रहण कर सकते हैं, वैसे ही नवकारसी क्या कभी भी की जा सकती है, यदि मात्र एक मुहूर्त का प्रत्याख्यान हो तो कभी भी की जा सकती है, पर ऐसा नहीं है। उग्गाए सूरे के पाठ से संकेत मिलता है कि रात्रि चौविहारपूर्वक सूर्योदय के पश्चात् एक मुहूर्त तक कुछ भी ग्रहण नहीं करना।

नवकारसी आदि प्रत्याख्यान के पाठ साधु की प्रमुखता से है। साधु के रात्रि चौविहार ही होता है, इसलिए अलग से रात्रि चौविहार का कथन नहीं है। पर इसका आशय वही है। मध्य समय से अर्द्धरात्रि के पश्चात् कुछ भी ग्रहण नहीं करने की परंपरा भी चल पड़ी थी। उसके अनुसार किसी के प्रत्याख्यान लिया हुआ हो तो अर्द्धरात्रि के पश्चात् तो

कुछ भी असणं आदि ग्रहण करना ही नहीं चाहिए। तभी नवकारासी हो सकती है अन्यथा नहीं। जिस संदर्भ से जो बात की गई हो, उसी संदर्भ के अनुसार उनकी व्याख्या की जानी चाहिए। यथा -

स्थानांग सूत्र में नौ प्रकार के पुण्य बताए हैं - **अन्नपुण्य, पानपुण्य, वस्त्रपुण्य, लयनपुण्य शयन पुण्य आदि।** अन्न पुण्य कैसे होता है ? कोठे में अन्न भरा है तो क्या पुण्यवानी बंध जाएगी। अनाज जो कोठे में पड़ा है। लोग त्राहिमाम्-त्राहिमाम् कर रहे हैं, अभी छप्पन का साल है। पर आज से सौ वर्ष पूर्व छप्पन के साल में कैसी स्थिति थी ? सुना है लोग वृक्ष की छाल एवं पत्ते खाने को मजबूर हो गये थे। उस काल में यदि किसी जैन का गोडाउन भरा पड़ा हो और दुनिया भूख के मारे घास-पूस खाने लगे तो वह गोडाउन में भरा हुआ अनाज उस श्रावक को पुण्य बंधा देगा ? आप कहेंगे नहीं। क्या बात कर रहे हो, अनाज भरा पड़ा है, पुण्यवानी क्यों नहीं बंधेगी। पुण्यवानी अन्न देने से बंधती है। कहाँ से ले आये ये अर्थ ? शास्त्र में तो नहीं लिखा है। यदि 'उग्गाएसूरे' में सूर्योदय से यह अर्थ ले सकते हैं, तो अन्नपुण्य में भी अन्न भरा पड़ा है, तो पुण्य हो जाएगा, यह अर्थ को क्यों नहीं लेते ? पर ऐसा अर्थ नहीं लेते।

इसी प्रकार पान पुण्य-जेठ वैशाख की गर्मी पड़ रही हो, आपका कुण्ड, टंकी पानी से भरा है, दूसरा व्यक्ति प्यास से तड़प रहा है, प्यास से मर रहा है, लेकिन आपकी टंकी भरी है, तो क्या पुण्यवानी बंध जायेगी ? पुण्यवानी पानी पिलाने से बँधती है। यह अर्थ कहाँ से ले आये ? आप बहुत समझदार हैं। इसलिए तत्वचर्चा में आनंद आता है। नहीं तो भैंस के सामने कितनी ही बीन बजाओ, वह क्या समझे ?

**भैंस पद्मणी ने गेणो रे पहरायों, वा कांई जाणें नवसर हारा नें,  
पे'र कोनी जाणे, वा तो सांभ कोनी जाणे, भाग गई वारा गवारा में।  
केसर दुल गई गारा में.....॥**

भैंस बाई को कह दो, बहुमूल्य हार है, अवेर कर रखना। उसे कोई मतलब ही नहीं है और वही बहुमूल्य हार एक बहिन को पहना दो,

उस बहिन का मन उसमें अटका रहेगा। कहीं बच्चा उस हार को तोड़ ना दे, पर भैंस के लिये वह कोई काम की चीज नहीं। वैसे ही जहाँ तत्व के बात की जिज्ञासा हो, कुछ लेने की तैयारी हो, वहाँ तत्व की चर्चा करने में आनंद आता है। जो न समझे, वहाँ कहने लग जाये तो वे कहेंगे - क्या व्याख्यान बांचा, हमारे तो पल्ले ही नहीं पड़ा, किन्तु यह तो धर्म नगरी है। यहाँ तत्व की बात नहीं करें, तो कहाँ करेंगे। इसलिए गहराई से चिंतन करिये।

उपवास के प्रत्याख्यान के पाठ में चउत्थभतं शब्द है। इसके लिए भी बहुत सारी उलझने पड़ी हुई हैं। कोई कहता है उपवास के पहले दिन एक टाईम, उपवास के दिन दो टाईम और उपवास के दूसरे दिन एक टाईम का भोजन छोड़ना चाहिए। जैसे कल चतुर्दशी है, उपवास करना है तो आज एक समय का, कल चौदस को दोनों समय का एवं परसों अमावस्या को एक समय के भोजन का त्याग करें क्योंकि चार भक्त का त्याग करना है। यदि यह परिभाषा करने लगे तो आगे कि सारी व्यवस्था बिगड़ जाएगी। 'छठभतं' या 'अठभतं' में कैसे क्या करेंगे?

कभी कहते हैं यह तो उपवास की संज्ञा है। तो संज्ञा ऐसे ही हो गई क्या ? नरकगति यह भी एक संज्ञा है। इसी प्रकार तिर्यचगति, मनुष्यगति, यह भी एक संज्ञा है। फिर भी उनका अर्थ होता है। तो क्या कारण है कि उपवास के लिए 'चउत्थभतं' संज्ञा देनी ही आवश्यक हो गई ? जब तक हमारा अज्ञान था, ज्ञानावरणीय का उदय था, हम यह अर्थ भी लगाते रहे, पर संतोष नहीं था। आज भी बहुतों को मेरे ख्याल से संतोष नहीं होगा। पर विकल्प ही ही नहीं तो स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि संशय करना भी ठीक नहीं। संशय से डरते हैं, विश्वास करके चलते हैं। हमें कह दिया- यह संज्ञा है। तो मान लिया संज्ञा है। यदि गहराई में उतर, आगमिक संदर्भों से विचार करें तो वहाँ बहुत स्पष्ट दिया है कि - 'चउत्थभतं' यानी जिस तप में चतुर्थ भक्त ग्रहण किया जाय। 'चउत्थभतं' चौथे भक्त को ग्रहण करना। सूत्रों में बताया है - 'अठभतं पगिण्हिइ, छट्ठभतं पगिण्हिइ' - 'पगिण्हिइ' अर्थात् ग्रहण करता हूँ।

आशय यह है कि वह तप विशेष जिसमें चौथा भक्त ग्रहण किया जाता है, उसे चतुर्थ भक्त कहते हैं, इसी प्रकार छट्ठंभक्तं अट्ठंभक्त आदि के लिए भी जानना चाहिए। यदि इस दृष्टि से विचार करें तो दशवैकालिक कि बात भी संगत बैठती है। उसमें छठे अध्ययन में जहाँ रात्रि भोजन के विषय में बात आई है, वहाँ कहा है -“**एगभतं च भोयणं**”

शास्त्रकारों ने दो प्रकार के भक्त बताए हैं -(1) दिवा भक्त = दिन का भोजन (2) निशा भक्त = रात्रि का भोजन। इसमें साधु केवल दिन का ही भोजन ग्रहण कर सकता है। उसको रात्रि भोजन ग्रहण करने का त्याग होता है। जब दो भक्त की बात कही गई है तो चौदस को चउत्थंभतं की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है तो उसका अर्थ होगा, तेरस की रात का एक भक्त, चौदस के दिन व रात के दो भक्त इन तीन भक्तों का त्याग और चौथा भक्त यानी उपवास के दूसरे दिन का भक्त जिस तप विशेष ग्रहण किया जाता हो, वह चतुर्थ भक्त की तपस्या है। सुबह या शाम को पारणा कर पूरा दिन खुला है। कोई जरूरी नहीं कि वह दोपहर को पारणा करे या शाम को करे। यह भी नहीं कि उसे पोरसी करनी पड़ेगी। उपवास पर पोरसी इने-गिने करते हैं बाकी तो सुबह ही पारणा करते हैं। चउत्थंभतं पद स्पष्ट सूचित करता है कि उसके तेरस की रात्रि का एक और चौदस के दो भक्त इस प्रकार तीन भक्त के बाद उसके लिए अमावस का दिन खुला है। यदि यह पाठ आता-‘**चउभक्त पञ्चक्खामि**’ तो बात समझ में आती कि चार भक्त का प्रत्याख्यान है। पाठ आया है- ‘**चउत्थंभक्त**’ इसका बहुब्रीहि समास के आधार पर अर्थ होगा जिसमें चौथा भक्त ग्रहण किया जाए ऐसा प्रत्याख्यान स्वीकार करता हूँ। यहाँ यह बात भी ध्यान में लेनी चाहिए कि चउ का अर्थ चार होता है और चउत्थं का अर्थ चौथा होता है। इसलिए उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार ही सही तरीके से उपवास की आराधना हो सकेगी। इसी प्रकार से आयंबिल, एकासणे की व्याख्या होगी कि पहले दिन सूर्यास्त के साथ ही चौविहार के प्रत्याख्यान कर ले, किन्तु बीच के समय में जो व्यवस्था रही है। उसके अनुसार अर्द्ध रात्रि के बाद ग्रहण न किया जाय। यदि ग्रहण

करता है तो नवकारसी, पोरसी, दो पोरसी आयंबिल एकासणा आदि उसे नहीं करना चाहिए। वे जितने घण्टे के लिए चाहे, उतने घण्टे तिविहार, चौविहार के प्रत्याख्यान कर सकते हैं, परन्तु नवकारसी, पोरसी आदि नहीं कर सकते। कभी कोई कहे कि बारह बजे के बाद पानी पी लिया तो क्यों नहीं करना ? तो अपने को नवकारसी से इतना लगाव क्यों है ? यदि किसी को चार बजे पानी पीना ही पड़ता है, शारीरिक स्थिति से तो उसके लिए यह तो अनिवार्य नहीं कि नवकारसी करनी ही पड़े। यदि नवकारसी आदि करनी है, तो शुद्ध करें, विधिवत करें। यदि नहीं हो पाती है तो कोई जबरदस्ती नहीं है।

यदि हम धर्म का झंडा लेकर चलते हैं तो हमें धर्म का मर्म भी ज्ञात होना चाहिए। वैसे तो आप जानते हैं कि अन्न देने से पुण्य होता है, पानी पिलाने से पुण्य होता है, मकान देने से पुण्य होता है। अगर मकान बनाने से पुण्य होता, तो एक बिल्डर मकानों की लाइन लगा देता है, बड़ी-बड़ी बिल्डिंगें खड़ी कर देता है। क्या वह पुण्यवानी बांध रहा है ? नहीं। मकान बनाने से पुण्य होता है या आरंभ ? यह देखना होगा। दोनों ही बातें हो सकती हैं। वह किन भावों से बना रहा है ? मकान बनाने के पीछे यदि शुभ भावना है कि भाई-बहन यहाँ धर्म ध्यान करेंगे, हॉस्पिटल में काम आएगा तो ये अध्यवसाय शुभ है। शुभ अध्यवसाय पुण्यबंध के हेतु है। यथा तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है - 'शुभः पुण्याय'।

शुभ अध्यवसाय से पुण्य बंधेगा और यदि अशुभ अध्यवसाय से क्रिया होगी, जैसे एक व्यक्ति परिवार के भाव से मकान बना रहा है। वहाँ मोह की भावना है। वहाँ पुण्य का उतना भाव जुड़ नहीं पाएगा। इसलिए इन सारी अवस्थाओं में अध्यवसायों को टटोलें कि हमारे अध्यवसाय कैसे हैं।

उपवास, नवकारसी, पोरसी ये सारे प्रत्याख्यान यदि चौविहारपूर्वक किये जाये तो बहुत अच्छी बात है। नहीं तो अर्द्धरात्रि के बाद तो कुछ भी ना खाये, पीयें। वह उपवास, पोरसी आदि पचकर सकता है। दया की जहाँ तक बात है। आज दया, पौषध, सामायिक,

प्रतिक्रमण का स्वरूप विकृत हो चुका है - सामायिक की हम परिभाषा नहीं जानते हैं। दौड़ते भागते आये, आसन बिछाया, नहीं बिछाया, मुँहपत्ति बांधी और मत्थण वंदामि - सामायिक पचक्खाओ। क्या हो गई विधि? पूंजणी है या नहीं? कई भाई पूंजणी हाथ में लेकर जैसे मंदिर की घंटी हिलाते हैं वैसे ही हिलाते रहते हैं। चाहे अयतना ही इसकी कोई फ्रिक नहीं। झुककर पूँजे कौन? आज धर्म स्थानों में डांडियों के दर्शन भी दुर्लभ हैं। उन्हें रखने का स्थान भी शायद नहीं मिलता। दरी, जाजम, जूते-चप्पल रखने का, दान पेटी को रखने का स्थान मिल जाएगा। जैसे आपके घरों में मारुति कार रखने के लिए स्थान है, किन्तु गाय के लिए नहीं। वैसे ही धर्म स्थानों में डांडियों के लिये स्थान नहीं है। आप दया करेंगे। रात्रि में गमनागमन करना पड़ेगा तो क्या स्थिति बनेगी? यदि वहां एक भी कदम बिना पूँजे रख रहे हो, तो क्या दोष नहीं लगता? दस श्रावकों के वर्णन में चुलनी पिता का नाम सुना होगा। उन्होंने पौषध किया, देव ने उपसर्ग दिया, पहले तो वे दृढ़ रहे, किन्तु बाद में वे देव को पकड़ने दौड़े तो उनकी माता भद्रा सार्थवाही ने कहा-देव के प्रति मारने के भाव से तुमने पौषध व्रत में दोष लगाया, किन्तु बिना पूँजे चलने से उत्तर गुण में दोष लगाया। आप दया व्रत में पूँजे नहीं, प्रतिलेखन का ध्यान नहीं रखें तो क्या दोष नहीं लगेगा? कई भाई सूर्यास्त से पाँच-दस मिनट पहले आयेंगे और कहेंगे पौषध पचक्खा दीजिए। ऐसी स्थिति में कब वह प्रतिलेखन करेगा? दया में भी उसे सुबह शाम प्रतिलेखना करनी चाहिए। दिन-रात में कम से कम ग्यारह सामायिक करनी चाहिए।

कहीं-कहीं यह भी चर्चा चलती है - ग्यारहवां प्रतिपूर्ण पौषध करना है तो पहले पंद्रह सामायिक पचक्ख ली, फिर पौषध पचक्ख लिया। सामायिक भी हो गई, पौषध भी हो गया, सभी लाभ मिल जायेंगे। हम मन को बहुत बहला लेते हैं। इस प्रकार की बातें मन को बहलाने-सहलाने वाली हैं। कह देते हैं कि सामायिक पचक्ख ली है तो सोयेंगे नहीं तो क्या? पौषध के समय दिन में सो सकता है? सो जाते हैं, ये बात अलग है पर सो सकता है क्या? पहले सामायिक ली पौषध का विचार

बाद में बन गया तब तो कर सकते हैं किन्तु विचार पौषध का लेकर आया है, फिर कहे पोरसी पचकरा दो, फिर उपवास, फिर पौषध, यह ठीक नहीं। पौषध में तो दिन में सोना नहीं है। रात्रि में भी प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने के बाद दूसरे प्रहर में सो सकते हैं। वहाँ सोने का नहीं कहा है, किन्तु कहा कि चौथे प्रहर में निद्रा मुक्त हो जायें। इस प्रकार दो प्रहर माठेरा सो सकता है। उसके अतिरिक्त छः प्रहर आत्मा के पोषण के लिए है। हम सो जाते हैं ये हमारी कमजोरी है। हम पौषध करना चाहते हैं तो इसका लाभ तभी मिलेगा, जब हम उसी में अंतर्भावित रहें। हम पौषध, दया करें तो पूरी शुद्धि का ध्यान रखें। नहीं तो हम से बहुत सारे दोषों का सेवन हो जाता है।

सामायिक के दोष कितने हैं ? मन के दस दोष, वचन के दस दोष और काया के बारह दोष। वैसे ही पौषध के दोष भी जानें। जैसे कल से तैला करना है, दाढी नहीं बनवाना है, इसलिए आज ही घोटमघोट करवा लो। मल-मल कर स्नान कर लो, कपड़े धो लो, ये सब प्रवृत्ति ठीक है क्या ? आप अपने रूटीन से कर रहे हैं, यह बात अलग है, किन्तु कल पौषध करना है, इसलिए आज कर लें, यह उचित नहीं। पौषध के निमित्त से भाव लाकर नहीं करना चाहिए। आपके घर में स्वाभाविक रसोई बन रही है, वह ठीक है। किन्तु महाराज आ रहे हैं, इसलिए कुछ नाश्ता बना लो- पोहा, हलुआ बना लो, यह ठीक नहीं, रूटीन से बनता ही है या यूँ ही बना लिया, यह बात अलग है किन्तु यदि साधु के निमित्त से बना हो तो वह सदोष है। वैसे ही वह पौषध के निमित्त क्रियाएँ करे तो वह पौषध के लिए दोष का कारण है। धर्म क्रिया करना है तो दशवैकालिक सूत्र में कहा है - **पढमं णाणं तओ दया ।**

पहले ज्ञान करो, यदि ज्ञान नहीं है और आचरण कर लिया तो व्रत के साथ कई अतिचार जुड़ते चले जायेंगे। आप कहेंगे - नहीं करने से जो करे वह अच्छा है। ऐसा करने के पीछे हमने धर्म क्रियाओं की अवहेलना की है, उसका स्टेन्डर्ड गिराया है। इसमें आप ही नहीं हम भी कारण रहे हैं। यदि आपने धर्म स्थान में जाने का लक्ष्य बनाया है, तो घर



से निकलते ही निस्सही-निस्सही कहते हुए निकले कि मैं अब संसार के कार्यों से निवृत्त होता हूँ। वहीं से आपके मस्तिष्क में संकल्प बने कि अब धर्म क्रिया में जुटने वाला हूँ। नहीं तो घर से निकले, बाजार में कितने ही व्यापार संबंधी कार्य कर लिये। किसी से लेना है, किसी को देना है। बीच में बूथ पर फोन कर लिया तो ये सारे कार्य निषेध हैं। आप निवृत्त हो चुके हैं, घर से निकलने के साथ ही आपने मस्तिष्क के केन्द्र को सूचना दे दी है। यहाँ से निकलकर स्थानक पहुँचने और वहाँ रहने तक मैं निवृत्त हूँ। ताकि आपको वहाँ संसार का काम परेशान नहीं कर सके। फिर धर्म स्थान में पहुँचकर निस्सही-निस्सही कहकर प्रवेश करें। स्थान का प्रतिलेखन करके, पूंजनी से पूंजे, फिर आसन बिछाएं, ऐसा नहीं कि मुँहपत्ति उठाई और मुँह पर पहन ली। कोई घर में प्रतिलेखन कर ले तो बात अलग है। यदि नहीं किया तो कहीं मोड़ला (मुख्यतः सरसों की फसल के आस-पास मंडराने वाले छोटे-छोटे जीव, जो काले रंग के होते हैं) अन्दर रह गये तो दब कर मर जायेंगे। हमारी दया इनके साथ जुड़ नहीं पायेगी। इसलिए मुँहपत्ति को प्रतिलेखन करके बांधें। दुपट्टे का प्रतिलेखन करके ओढ़े आज व्यवस्था नहीं रहती, किन्तु नीति कहती है बहनों के सामने नहीं किन्तु आड़ में जाकर कपड़े बदलने चाहिए। फिर विधि प्रारंभ करें। नवकार मंत्र, इच्छाकारणं, तस्सउत्तरी, उसके बाद लोगस्स का ध्यान करें। आप कहेंगे यह नई व्यवस्था कैसे ? ध्यान तो इच्छाकारणं का करते रहे हैं। करते रहे हैं, नहीं करते रहे, ऐसी बात नहीं है। हमें विचार करना है- हमने इच्छाकारणं गिनकर तस्स मिच्छामि दुक्कडं कह दिया। आलोचना-प्रतिक्रमण कर लिया और प्रायश्चित्त कर लिया। मिच्छामि दुक्कडं कहकर अब ध्यान में फिर इच्छाकारणं कहेंगे तो वहाँ होगा आलोक ? पहले आलोचना होती है, तत्पश्चात् प्रायश्चित्त। आपने प्रायश्चित्त ले लिया, अब क्या आलोचना करेंगे ? जैसे प्रतिक्रमण में भी आप पहले आलोचना करके फिर मिच्छामि दुक्कडं देते हैं। इस दृष्टि से विचार करें तो इच्छाकारणं के ध्यान की बात जम नहीं पाती। इसके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ ध्यान के पश्चात् लोगस्स बोला जाता है।

वहाँ-वहाँ ध्यान में लोगस्स का ध्यान किया जाता है। जैसे प्रतिक्रमण के पाँचवे आवश्यक में। इसी प्रकार यहाँ भी ध्यान के बाद लोगस्स प्रकट में बोला जाता है। इसलिए ध्यान में भी लोगस्स करना उचित लगता है।

आचार्य देव ने चिंतन किया, मनन किया। सारी की सारी स्थितियों का अवलोकन करके बोरीवली (मुंबई) में स्पष्ट घोषणा की- सामायिक लेते समय कायोत्सर्ग में एक लोगस्स का ध्यान करना चाहिए। अब विचार करें कि एक लोगस्स का ध्यान क्यों करना चाहिए ? ध्यान से पूर्व आप तस्सउत्तरी का पाठ करते हैं। उत्तरीकरण का अर्थ है- शुद्धि करने के लिए पुनः आत्मा को संस्कार द्वारा ऊपर की ओर ले जाने के लिए। भाव यह है कि जिस अतिचार की पूर्व में आलोचना आदि की, पुनः उसकी विशेष शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करना। आगे भी व्याख्या है, मैं अभी सारी व्याख्या नहीं कर रहा हूँ क्योंकि समय के अनुसार चलना है। थोड़ी बात और स्पष्ट कर दूँ। आप सामायिक में टुपट्टा क्यों ओढ़ते हैं ? शादी की या नहीं ? की है तो शादी के समय ऊपर उतरीय पछेवड़ी ओढ़ी, बहन को भी ऊपर एक वस्त्र ओढ़कर, फिर दोनों का पल्ला जोड़ा गया। कहने का तात्पर्य है ऊपर के उत्तरीय से संबंध जोड़ा जाता है। जैसे वहाँ वर-वधू का संबंध जोड़ते हैं वैसे ही यहाँ परमात्मा से संबंध जोड़ने वाला उत्तरीय करणं है। इस प्रकार की भावना मस्तिष्क में बनती है तो पूरा का पूरा ब्राउण्ड तैयार हो जाता है, लेकिन हम देखते हैं कि एक मिनिट लेट नहीं होना चाहिए। टाइम नहीं है। झट आये और मत्थण वंदामि। हमें तो जावण डालना है। दूध ठंडा है या गर्म कोई मतलब नहीं। दूध यदि गर्म है और झट जावण डाल दिया तो दूध फट जाएगा और ठंडे में डाला तो झोलिया बन जाएगा, पर चक्का जम नहीं जाएगा। इसलिए बहनें देखती हैं, मौसम कैसा है। किस मौसम में कैसा दूध होना चाहिए। सर्दी है तो कुछ गर्म में और गर्मी है तो कुछ ठंडे में जावण डालते हैं, लेकिन हम सामाजिक में जावण बहुत जल्दी डालना चाहते हैं। विधि-विधान का कोई ज्ञान नहीं। कैसे मन कंट्रोल होगा ? समाधि भाव आएगा कैसे ? हमने भूमिका तैयार ही नहीं की। दौड़ते-भागते आये, भागते चोर

की लंगोटी ही भली। फिर लंगोटी ही हाथ आएगी। चोर को पकड़ नहीं पाएँगे। भले उस लंगोट को अवेर कर रख लो।

उत्तरीकरण से संबंध जोड़कर लोगस्स का ध्यान करना है। लोगस्स का ही क्यों ? आपने सुना होगा, कृष्ण वासुदेव ने ध्यान करके भाई के होने न होने की जानकारी देव द्वारा ले ली। तेले की तपस्या की और देव का आह्वान किया। वैसे ही हम सामायिक करके क्या चाहते हैं ? हमारा लक्ष्य क्या है ? उसे हम कायोत्सर्ग में निर्धारित करते हैं- **‘सामाहिवरमुत्तमं दितु’** जैसे तीर्थकर देवों की समाधि रही है, वैसी ही उत्कृष्ट समाधि मुझे भी प्राप्त हो। उसके लिए मैं सामायिक करने जा रहा हूँ। कभी सोचते हैं कि हम जो धर्म क्रिया कर रहे हैं, उसका फल कब मिलेगा। लाभ मिलेगा या नहीं ? लाभ ऐसे नहीं मिलेगा, आप उसमें रम जाइए। आपने रंगरेज को देखा होगा, वह कैसे रंग करता है ? यदि कपड़ा उल्टा-पुल्टा है, तो वैसे ही नहीं रंग देगा। पानी का माप भी पूरा होना चाहिए। उसमें कपड़ा पूरा डूबेगा, तो ही रंग आएगा। वैसे ही हम पूरा भीगें, यदि डूबे नहीं तो परमात्मा का रंग कैसे आएगा ?

### धर्म जिनेश्वर गाऊं रंग सूं .....

रंग चढ़ नहीं तो गायेंगे कैसे ? संसार का रंग उतरा ही नहीं है, तो परमात्मा का रंग चढायेंगे कैसे ? **‘सामहिवरमुत्तमं’** श्रेष्ठ समाधि नहीं मिल पाएगी। परमात्मा का रंग चढ़े बिना चाहे साधु बन जाये, कुछ होने वाला नहीं है। भावधारा जितनी गहरी डूबेगी, उतना ही आनंद आएगा, समाधि प्राप्त होगी। नहीं तो सामायिक कितनी ही कर लें। बहनें गिनती करती है। कांई ओ! कित्ती सामायिक करी ? कितनी भी कर लो। यहाँ से सामायिक कर के गये और घर में बहू से लड़ने लग गये। चंडकौशिक की फुफकार चालू हो गई। कैसे आएगी समाधि ? तीर्थकर देवों के साथ संबंध जोड़ते हैं तब आगे की स्थिति में प्रवेश कर पाएँगे। फिर भाव फूटेंगे कि भगवन्! जैसी आपकी उत्कृष्ट समाधि है, वैसी मेरी भी बने। **‘आरूग्ग-बोहि लाभं’** आरोग्य-बोधि-लाभ, यह मेरे जीवन में प्रवेश करें। कायोत्सर्ग से संबंध जुड़ जाएगा। उसके बाद वापस खुले रूप

में एक लोगरस्स, वह संबंध को और गहरा करने के लिये है। फिर करेमि भंते! से सावद्य योग का प्रत्याख्यान। मानो भगवान कह रहे हैं- सावद्य योग का प्रत्याख्यान कर, तभी समाधि का लाभ मिलेगा। कोई कहे हमारी भावना वैसे ही शुद्ध है, सामायिक ना करे तो क्या ? भावना के साथ ठप्पा भी लगना चाहिए। सावद्य योग का त्याग कर रहा है। सावद्य योग का तात्पर्य पापकारी प्रवृत्ति है। यदि कोई सामायिक में खोटी भावना मन में लाए, अशुभ विचार करे तो क्या वह ऐसा कर सकता है। जैसे - “देखियो कांई भंवरलाल जी रो मकान, एकदम आधुनिक डिजाइन रो बणायो है। अब मैं भी अपने मकान का वैसे नक्शा.....।” ये भाव सावद्य है या निरवद्य ? अरे! कैसा बना था, चटनी बड़ा, बड़ा टेस्टफुल था। ये विकथाएँ चलेगी तो श्रेष्ठ समाधि नहीं मिल पाएगी। भगवान ने कहा सावद्य योग का प्रत्याख्यान करो, उसके बाद निरवद्य योग में आत्मा को लीन करो। तभी श्रेष्ठ समाधि प्राप्त होगी। लोगरस्स के बाद नमोत्थुणं बोला जाता है।- नमोत्थुणं, अरिहंताणं, भगवंताण.....क्या मतलब है इसका ? उतराध्ययन सूत्र में कहा गया है -**थवथुइमंगलेणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

स्तवन-स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। हमारी दृष्टि का मैल/कचरा साफ हो जाता है। आँख में सुरमा डालते हैं कि जाला ना रहे। वैसे ही आत्मा में मिथ्यात्व का जाला है, तो फिर विशुद्धि करनी होगी। फिर सावद्य योग के प्रत्याख्यान के बाद नमोत्थुणं देना, जिससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी बोधिलाभ की प्राप्ति होगी। इस प्रकार भाव से सामायिक करें। द्रव्य सामायिक करते जन्म बीत गये, किन्तु जब तक भाव से न करें, तब तक बोधि लाभ नहीं होगा। सिद्ध स्वरूप को पाने का लक्ष्य है, तो उससे अपना कनेक्शन जोड़ें, समाधि अवश्य प्राप्त होगी। इस प्रकार चलें तो धर्म का स्वरूप जान पाएंगे नहीं तो -

**“धरम-धरम कहतो जग सहू फरे  
धर्म न जाणे हो मर्म जिनेश्वर”**

धर्म-धर्म कहते हैं पर धर्म का मर्म क्या है, यह पता नहीं। जब-तक मर्म नहीं जानेंगे, तब तक आनंद नहीं आ पाएगा। आज आपके

सामने तत्वपरक बातें चलती रहीं, कथा नहीं कह पाया, किन्तु ये हमारे जीवन की कथा है। दूसरे चुटकुले-फुटकुले भी सुनाते हैं, तो वह किसलिए ? जैसे माँ बालक को घी खिलाना चाहती है, वह ऐसे नहीं खाता तो उसे हलुआ बनाकर, खिचड़ी में मथ कर खिला देती है। खाना तो पड़ेगा, कैसे भी खा। कथा का लक्ष्य भी यही है कि तत्व की बात आपके गले उतार दी जाय, उतर जाती है तो भीतर के द्वार खुलते हैं। भीतर के द्वार खुलने से हम तत्व को तत्व रूप में स्वीकार कर सकेंगे। यदि किसी प्रकार का दुराग्रह भी हमारे मन में होगा तो, द्वार खुला रखने से दुराग्रह दूर होगा। जिससे जो भी उपवास, पौषध आदि धर्मानुष्ठान होंगे, वे शुद्ध रूप से सम्पन्न हो सकेंगे। इसलिए कहना चाहूँगा - **ऐसे जगाएँ ज्ञान चेतना।**



## कर ले मोती की पहचान

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सूँ.....।

गुरु के पास शिष्य पहुँचा और निवेदन करने लगा, “मैं चाहता हूँ कि मेरा तीसरा नेत्र खुल जाय।”

गुरु ने कहा- ‘चाहने से सब चीजें नहीं हो जाया करती।’

चाह से जरूरी नहीं कि राह मिल ही जाए। कभी चाह में ज्यादा अनुरक्ति हो जाए तो राह के बजाय भीतर से आह निकलने लगती है। यदि चाह पूरी न हो तो वह चाह व्यक्ति को कुंठित कर देती है। गुरु ने कहा- तीसरा नेत्र खोलने की आवश्यकता नहीं है। पहले से ही तुम्हारे दो आँखें हैं। इनकी भी आवश्यकता क्या है? एक से भी काम चल सकता है। तुम कहते हो, तीसरा नेत्र खोल दो, किन्तु मैं कहता हूँ - दो नेत्रों के स्थान पर एक ही नेत्र हो जाए। “आज यदि गुरु ऐसा कह दे तो कौन शिष्य टिकेगा ?” ‘मत्थएण वंदामि’ कहता हुआ शायद रवाना हो जाएगा। आया था कुछ पाने के लिए कि तीसरा नेत्र दे देंगे किन्तु यहाँ तो दो नेत्रों को एक कर लो, कहा जा रहा है। क्या एक को फोड़ लूँ ? ऐसा कैसे हो सकता है? जब प्रकृति से दो आँखें मिली हैं, तो एक क्यों कर लूँ ?

बंधुओं! हम मानें या ना मानें, किन्तु दो आँखों के कारण ही हम झमेले में पड़े हुए हैं। अतः अच्छा हो कि दोनों एक बन जाए। दोनों एक बन जाए तो आनन्द ही आनन्द है। दो आँखें हैं, एक राग की और एक द्वेष की। हम इन आँखों से जिन पदार्थों को देख रहे हैं। उनमें से एक

के प्रति राग पैदा होता है, दूसरे के प्रति द्वेष भाव पैदा होता है। ऐसा इन दो आँखों के कारण ही हो रहा है। इसलिए कहा कि दो आँखें एक हो जाए ताकि जो पदार्थ जैसा है वैसा ही दिखे। उसके प्रति न राग पैदा हो, न द्वेष। यदि ऐसी साधना, ऐसी दृष्टि बन जाय तो निश्चित रूप से आनंद की अनुभूति होगी। तभी सत्य को देख पाएंगे। नहीं तो आँख में जैसा रंग है, वैसा ही बाहर दिखेगा। पदार्थ श्वेत है, किन्तु यदि पीलिया की बीमारी है तो हम श्वेत को भी पीला देखेंगे। इसलिए राग और द्वेष की आँख को एक बना लो। ताकि यथार्थ को देख पाओ।

परन्तु दो आँखों को एक बना लेना आसान नहीं है। उसके लिए साधना आवश्यक है। साधना में तीन चीजें महत्वपूर्ण होती हैं- मन, वचन और काया। ये तीनों संसार में रूला भी सकती हैं और मोक्ष तक ले जा भी सकती हैं, पर मोक्ष में ये साथ नहीं जाती, क्योंकि वहाँ तो एकाकी ही जाना होता है। आत्मा से भिन्न दूसरा कोई साथी नहीं है, वहाँ तो निखालिस आत्मा ही प्रवेश कर सकती है। मन, वचन, काया तो यंत्र हैं। यंत्रों का वहाँ कोई उपयोग नहीं।

सिद्ध भगवान सिद्ध क्षेत्र में रहते हैं। वे हमसे अनंतानंत गुणा अधिक शक्ति से सम्पन्न हैं, किन्तु अकरण वीर्य होने से तथा यंत्र नहीं होने से वहाँ उनकी हलन-चलन नहीं है। सोचना विचारना भी नहीं है, आवश्यकता भी नहीं है। इस प्रकार समझें कि मन, वचन, काया मोक्ष के निकट ले जा सकते हैं, किन्तु मोक्ष में उन्हें नहीं ले जा सकते। निकट ले जाकर ये अलग हो जाएंगे। मोक्ष की ओर गति स्वयं को करनी पड़ेगी। जब तक हम मुक्ति के किनारे तक नहीं पहुँच जाँ, तब तक मन, वचन, काया का सहयोग अपेक्षित है। इनके बिना आत्मा की गति सुधर नहीं सकती। कोई यह भी सोच सकता है कि काया का क्या करना है। हम भी कहते हैं कि काया का क्या काम है -

**मती राचो रे संसार, सपने री भाया**

**मती राचो रे.....।**

**हाड़का रा पिंजरा ने चामड़ा सुं मढ़िया**

## कुंभ कलश जैसी काची काया

मती राचो रे.....।

एक तरफ तो हम कहते हैं काची काया, मत राचो और दूसरी तरफ उसी काया को प्राप्त करने के लिए हमने पूंजी भी खर्च की है। बैंक बैलेन्स में से कितनी पूंजी खर्च करनी पड़ी, कितने का चैक काटना पड़ा ? यह कैसे मिली है इसका ध्यान है ? अनंत पुण्य की पूंजी खर्च की है। जो हमारा फिक्सड डिपोजिट था, उसे भुनाना पड़ा, तब यह तन मिला है।

मनुष्य तन तो मिल गया पर इसका उपयोग कैसे करना, यह भी तो ज्ञात होना चाहिये। यदि इस काया को सही ढंग से काम में लिया तो जन्म-मरण के चक्कर से छूट सकते हैं। परन्तु यदि इसका दुरुपयोग किया तो नरक-निगोद के मेहमान भी बन सकते हैं। इसे सुमार्ग पर नियोजित करें तो यह कहीं से कहीं तक पहुँचा सकती है। बच्चे के हाथ में शस्त्र आ जाए, तो वह किसी को भी चोट पहुँचाने की स्थिति पैदा कर सकता है और यदि उसे लकड़ी दे दी जाय तो वह लकड़ी काटने का काम भी कर सकता है। अन्य पुरुषार्थ भी कर सकता है। वैसे ही तन-मन को काम नहीं दिया तो वे शैतान बन सकते हैं। कहा भी गया है - **खाली दिमाग शैतान का घर।** पता नहीं वह कहाँ से कहाँ उलझा देता है, भटका देता है, इसलिए ज्ञानी जनों ने कहा है- उसे सावधानी से सही दिशा में ले जाने का प्रयत्न करो और यह प्रयत्न अपने स्वयं के बूते पर करो अन्यथा वही स्थिति होगी कि घोड़े की सवारी या ऊँट की सवारी हर कोई नहीं कर सकता। दूल्हे राजा को घोड़े पर तो बिठाया जाता है पर घोड़ा चलाने वाले को साथ में रहना पड़ता है अन्यथा दूल्हे राजा का जो हाल होगा, उसे समझा जा सकता है। बिना सधे घोड़े पर बिठा दिया जाय और कह दिया जाए कि आप रमणी को वरने जाइये, तो सम्भव है कि उसे अस्पताल की शरण लेनी पड़े। पुराने समय में घोड़े की सवारी से यह माना जाता था कि जो घोड़े को कंट्रोल में रख लेगा, वह पूरे परिवार को भी नियंत्रित रख लेगा। आज परम्पराओं का निर्वाह मात्र हो रहा है। यही परम्परा धर्म मार्ग में जारी न रखें। मुक्ति रमणी का वरण अपने बलबूते पर करें, तभी वह आपकी निधि हो सकती है।



तीसरा नेत्र खोलने की बात हमें सुनने में अच्छी लगती है पर खोल पाना उतना आसान नहीं है। यही कारण है की गुरु ने तीसरे नेत्र खोलने के बजाय, एक नेत्र होने की बात कही। ऐसे प्रसंगों पर कभी-कभी व्यक्ति शब्दों के कलेवर को पकड़कर बैठ जाता है। कलेवर खींचने का काम कौन करता है ? चमार। हमें कलेवर खींचने का काम नहीं करना है। यथार्थ को पाना है। अतः शब्द के भाव अच्छी तरह समझें।

हम जो सुनते हैं उसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं- शब्द, अर्थ और भाव। इसी तरह हमारी भी तीन अवस्थाएँ हैं। शरीर, प्राण और आत्मा। शब्द शरीर है, अर्थ प्राण है और भाव आत्मा है। यदि शब्द में अटक गये तो शरीर में अटके रह जाएँगे। यदि अर्थ में उलझे तो प्राण तक ही पहुँच पायेंगे। प्राण दस बताये गये हैं किन्तु प्राण ही सब कुछ नहीं है। आगे भी कुछ है। प्राण में उलझे तो आत्मा के दर्शन नहीं हो पाएँगे। आत्मा तक पहुँचना है तो प्राणों को पार करना होगा। भावों तक पहुँचने पर आत्मा तक पहुँचने की बात होगी। भाव न समझें और मात्र अर्थ को पकड़ें तो अनर्थ भी हो सकता है।

एक बार बादशाह अकबर का दरबार लगा हुआ था। बादशाह कभी मूढ़ में होते थे, तो कोई न कोई शगूफा छोड़ देते थे। लगाते रही उसमें मस्तिष्क। एक बार दरबार में पूछ लिया बारह में से चार गये तो कितने बचे? आप बोल रहे हैं एक भी नहीं क्योंकि आप कलेवर नहीं खींचते। आप तो आत्मा तक पहुँचते हैं, लेकिन वहाँ तो कलेवर खींचने वाले थे। वे कहने लगे आठ बचे, क्योंकि उन्हें गणित के अलावा कुछ आता ही नहीं था। जो गणितज्ञ होते हैं वे जोड़- बाकी ही करते हैं। उनकी बुद्धि यह सोचने को तैयार नहीं होती कि प्रश्न पूछ कौन रहा है। प्रश्न बादशाह पूछ रहा था। कोई पहली क्लास का मास्टर नहीं पूछ रहा था। यदि पहली क्लास का मास्टर ऐसा पूछे और उस कक्षा का विद्यार्थी कह दे कि आठ बचे तो कोई बात नहीं, लेकिन बादशाह अकबर पूछ रहे थे तो जरूर कोई गहन भाव छिपा था, पर दरबारी अर्थ में उलझ रहे थे,

सभी कहने लगे इसमें सोचना क्या है ? बारह में से चार गए तो आठ बचेंगे, चार गये तो आठ ही तो बचेंगे। अकबर को संतोष नहीं हुआ। अकबर की निगाह “बीरबल पर पड़ी? बीरबल, तुम क्या कहते हो? बीरबल ने उत्तर दिया हुजूर ! सभी कह रहे हैं। सब तो कह रहे हैं, पर तुम क्या कहते हो। हुजूर शून्य बचेगा। सभासद हँसने लगे। सभासदों के हँसने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। तथ्य-तथ्य ही रहता है। बीरबल का उत्तर लौकिक गणित के आधार पर नहीं था। उसका उत्तर जीवन की गणित के आधार पर अर्थात् भाव के आधार पर था। अनुभवी मानते हैं कि वर्ष के बारह महीनों में से चौमासे के चार माह चले जाएं तो शून्य ही शेष बचेगा।

मांडा गांव में प्रवेश के पूर्व बच्चों की स्कूल थी। मुझसे उसमें चलने के लिए कहा गया, मैं चला गया। मंगलचंद जी सा ने कहा कि आप देखिये कि उन्हें किस प्रकार का अध्ययन कराया जाता है। मैंने बच्चों से पूछा- तुम्हें अध्यापक जी अध्ययन कराते हैं, पर कैसा कराते हैं, यह मैं देखना चाहता हूँ। तुम्हें गुणा, जोड़, बाकी आता है ? वे हाथ उठाकर स्वीकृति देने लगे। मैंने कहा पचास में से कितना घटाओ कि पच्चीस रह जाए। बच्चों ने समवेत् स्वर में कहा - पच्चीस। मैंने दूसरा प्रश्न किया कि पचास में कितने जोड़े कि पच्चीस हो जाये? अब सारे चुप हो गये। आप बताएंगे क्या करना होगा? क्या जोड़ना होगा? अब बात थोड़ी अटक गई। आप भी चुप हैं तब वे तो बच्चे थे। मैंने उनसे कहा मैं बतलाऊँगा, लेकिन थोड़ी देर बाद तब तक तुम्हें एक दूसरी बात बताता हूँ। उसी बीच मैंने जीवन निर्माण की कुछ बातें सुना दीं। फिर कहा - आप लिखो पचास । अब 'चा' पर 'ई' की मात्रा जोड़ दो, तो क्या होगा? बच्चों को खुशी हुई, उन्हें एक चुटकुला मिल गया।

आज बहुत से भाई अलग से आकर कहते हैं- महाराज टाइम चाहिए। “समय देने पर बोलते हैं महाराज ! बहुत परेशान हूँ, नींद नहीं आती। क्या कारण है? क्यों परेशान है ? हम समझ नहीं पाते पर ऐसी स्थिति क्यों बन जाती है। तनाव क्यों है ? यदि भगवान से किसी ने पूछ

लिया होता कि तनाव से मुक्ति कैसे हो सकती है और भगवान ने बता दिया होता तो आज वे फार्मूले घोट-घोट कर नहीं पी लेते? मंत्र-तंत्र बता देते तो ओं, हीं, श्रीं, क्लीं. की माला का जाप शुरू नहीं हो जाता? किन्तु जप करके ही यदि मात्र शब्द तक रह गये तो हृदय तक नहीं पहुँच पाएंगे। तनाव-मुक्त जीवन जीने का उपाय भगवान ने सहज जीवन जीना बताया है। परन्तु वैसा जीवन जीने के लिए व्यक्ति सहसा तैयार नहीं होता। उसे तो केवल मंत्र चाहिये जिसे वह रट सके व जप सके। मुँह से उच्चारित शब्दों के भाव तक पहुँचने की वह चिन्ता नहीं करता। मन की शान्ति मन में भावना उत्पन्न होने पर ही आती है, मुँह से बोले गये शब्द के माध्यम से नहीं ।

नमो अरिहंताणं जपते-जपते कितना काल बीत गया, क्या तनाव कम हुआ? कम नहीं हो रहा है ? फिर भी यह खोज नहीं करते कि क्या कारण है, जो तनाव कम नहीं हो रहा है, जबकि नवकार महामंत्र सर्व पाप विनाशक है। तनाव कम होगा भी कैसे जब केवल कलेवर पकड़ कर बैठ गए, आत्मा की खोज ही नहीं करें तो तब गुढ अर्थ समझ में कैसे आएगा ? हम केवल शास्त्रों के स्वामी बन कर रह जाएंगे। जैसे किसी व्यक्ति के पास पूर्वजों से प्राप्त एक तिजोरी थी, परन्तु चाबी कहीं खो गई थी उस तिजोरी के स्वामी को तो केवल चाबी का ज्ञान नहीं था। परन्तु मैं तो कहता हूँ कि चाबी क्या, हमारी स्थिति तो ऐसी है कि तिजोरी का ताला कहाँ है, यह भी हमें पता नहीं है। जब पता ही नहीं है तो तोड़ें भी कैसे ?

कारीगर को बुला भी लिया गया, किन्तु तिजोरी की बनावट ही ऐसी थी कि वह टूटती ही नहीं है। आखिर परेशान होकर उस तिजोरी के कमरे के बाहर एक ताला लगाकर संतोष कर लिया कि तिजोरी मेरे कमरे में है, किन्तु तिजोरी में है क्या, यह तो पता ही नहीं। पूर्वजों से सुन जरूर रखा है कि तिजोरी भरी हुई है, पर क्या भरा हुआ है, यह मालूम नहीं। वैसे ही वीतराग वाणी के विषय में हम कहते अवश्य हैं कि उसमें अखूट खजाना है पर कैसा है, कितने हीरे-मोती भरे हैं उसमें, इसका पता नहीं है। पर इसमें हीरे-मोती है, ऐसा विश्वास है क्या ?

विश्वास तो भरपूर है, परन्तु तिजोरी को खोलने का तरीका ज्ञात नहीं है। सुमेरपुर के राजा ने एक नया नगर बसाया, साथ ही उसने घोषणा भी कर दी कि कोई भी व्यापारी यहाँ आकर व्यापार करना चाहे तो कर सकता है। उससे कोई कर नहीं लिया जाएगा। वह बिना कर चुकाए अपना माल बेच सकता है। कदाचित् माल नहीं बिके तो उसे परेशान होने की आवश्यकता नहीं, उसका माल राज्य द्वारा खरीद लिया जाएगा। किसी भी व्यापारी को हताश होना नहीं पड़ेगा। अनेक व्यापारी आने लगे। एक बार एक वृद्ध व्यापारी भी आया। वह अपने चार अंधे पुत्रों को भी अपने साथ लाया। बाजार में बैठ गया कि कोई इन्हें खरीद ले। कौन खरीदता अंधों को? वैसे भी कहा गया है कि अंधे को निमन्त्रण देने का मतलब है कि दो को भोजन कराना, क्योंकि वह अकेला तो आयेगा नहीं। एक उसके साथ आएगा, तो उसको भी खिलाना पड़ेगा। सुबह से शाम हो गई। किसी ने उन्हें नहीं खरीदा। वह वृद्ध व्यापारी राजा के पास पहुँचा और कहने लगा 'राजन्! मेरा माल नहीं बिका।' राजा ने पूछा क्या माल है ? उसने लड़कों की तरफ इशारा करते हुए कहा 'लड़के हैं।' राजा ने पूछा कीमत कितनी है? उसने कहा "एक-एक की सवा लाख रुपया।" राजा ने आश्चर्य से कहा- सवा-सवा लाख रुपये और वह भी अंधों के लिए। "वृद्ध व्यापारी ने कहा- राजन्! ये अंधे जरूर हैं, पर हैं बड़े करामाती।" राजा ने पूछा क्या करामात है इनमें ? तब वृद्ध ने गंभीर होते हुए कहा- भूपेश्वर, इनमें से एक घोड़े की परीक्षा कर सकता है, एक मोती की, एक नर की और एक नारी की परीक्षा कर सकता है। सम्राट ने पांच लाख रुपये दिये और चारों को खरीद लिया। एक टूटा-फूटा कच्चा मकान रहने के लिए दे दिया और प्रत्येक को एक-एक पाव आटा और एक छंटाक तेल देकर जीवन निर्वाह की व्यवस्था कर दी।

कुछ समय बीतने पर नगर में कुछ अश्व व्यापारी आये। उन्होंने राजा को अपने घोड़े दिखाये। राजा ने कहा उस अंधे को बुलाओ, आज परीक्षा करवाएँगे। अंधा आया, उससे कहा गया इनकी परीक्षा

करो। उसने सभी घोड़ों की कीमत आंक दी। एक घोड़ा जो जवान था बड़ा ही तन्दुरुस्त और आकर्षक था, उसके लिए कहा- “यह निकम्मा है, किसी काम का नहीं। व्यापारी उत्तेजित हो कर कहने लगा, तुम क्या जानते हो, कभी घोड़े देखे भी है। यह घोड़ा तो बड़ा मशहूर है, तुम कैसे कहते हो कि यह निकम्मा है” अंधा शान्ति से बोला- मैं ठीक कह रहा हूँ - यह ज्यादा तेज नहीं दौड़ सकता। थोड़ी दूर जाने पर इसकी श्वांस फूलने लग जाएगी। व्यापारी ने कहा ऐसा ही नहीं सकता। फिर व्यंग्य में कहने लगा- आखिर अंधा है आँखें हैं नहीं। यह क्या जाने ? अंधे परीक्षक ने कहा-राजन् ! घोड़ा दौड़ा लीजिए, मालूम पड़ जाएगा। व्यापारी ने ताव में कहा- मंजूर है। राजा ने कहा यदि नहीं दौड़ पाया, श्वांस फूल गई तो ? उसने उत्तर दिया, मैं सारे घोड़े छोड़ दूँगा। लग गई बाजी। चतुर अश्व चालक आरूढ़ हुए। दूसरे घोड़ों के साथ उसे दौड़ाया गया। थोड़ी दूर जाने के बाद वह तो हॉफने लगा, उसकी श्वांस फूल गई। सामने एक तालाब दिखी और वह उसमें उतर गया। बड़ी कठिनाई से उसे निकालकर लाया गया। अश्व चालकों द्वारा सारी बातें बता दी गईं। अब अश्व व्यापारी का मन ऊँचा-नीचा होने लगा। यह कैसे जान गया ? मैं तो सोच रहा था यह घोड़ा मुझे बड़ी कीमत दिलायेगा। इतने में राजा ने अंधे परीक्षक से पूछा- बोलो भाई, तुमने कैसे जाना ? हुजूर! इस घोड़े की माता इसके जन्म लेते ही मर गई थी, इस कारण इसे भैंस के दूध पर पाला गया, जिससे यह हष्ट-पुष्ट तो हो गया, इसमें ताजगी और तन्दुरुस्ती भी लगती है, किन्तु भैंस का दूध भारी होने से यह तेज चल नहीं सकता। फिर राजा ने पूछा तुमने यह कैसे जाना ? वह बोला मैंने इसके पेट की रग पर हाथ फेरा और नस की पकड़ से पहचान गया। इसका प्रमाण आपको मिल ही गया, जैसे भैंस का स्वभाव पानी में जाने का होता है। वैसे ही यह पानी में विश्राम करने लगा। राजा ने सोचा बात तो ठीक है। खुश होकर ईनाम में उसे कच्चे से पक्के मकान में भेज दिया और पाव की जगह आधा सेर आटा और दो छंटाक तेल की व्यवस्था कर दी।

कुछ दिन बीते कि मोतियों का व्यापारी आया। दूसरे सभी

मोतियों में एक मोती अद्भुत लग रहा था। दूसरे जौहरी उस मोती की कीमत आंकने में हिचकिचाने लगे। उनकी नजर में वह मोती बेशकीमती था। राजा ने उस अंधे पारखी को बुलवाया जो मोती का पारखी था। उसने सारे मोतियों पर हाथ फेरा और एक मोती अलग निकाल दिया। अन्य मोतियों की भिन्न-भिन्न कीमत बता दी। सम्राट ने विचार किया, सभी ने इस मोती की कीमत बताने से इनकार किया था। इसने भी उसे अलग निकाल दिया है। अंधे पारखी ने कहा - राजन्! इस मोती की कीमत फूटी कौड़ी भी नहीं है। अचानक राजा चौंका, उसके मन में विचार पैदा हुआ कि ऐसा कैसे हो सकता है ? यह तो अद्भुत मोती है। व्यापारी ने भी ताव में आकर कहा- राजन्! परीक्षा हो ही जाय यदि यह खोटा निकला तो सारे मोती ऐसे ही दे दूँगा। बाजी लग गई। पारखी अंधे से कहा गया, "सिद्ध करो।" उसने कहा- सिद्ध को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी आपको विश्वास हो जाय इसलिए इसे बींधा जाए। इसके टुकड़े हो जायेंगे। असली मोती बींधने पर टूटता नहीं है। इसे बींधो, टूट जाएगा और इसके भीतर का लाल रंग भी प्रकट हो जायेगा 'मोती को बींधा गया। सचमुच उसके टुकड़े हो गये और लाल रंग नजर आया। सबको आश्चर्य हुआ। राजा ने पूछ ही लिया तुमने कैसे जाना ? पारखी ने कहा- जिस समय आकाश से पानी गिर रहा था, उस समय एक बधिक ने तीर चलाया, जिससे एक पक्षी की मृत्यु हो गई। उसके शरीर से रिसने वाली खून की बूँदें पानी की बूँदों में मिल गईं और एक बूँद सीप के मुँह में चली गई, जिससे पानी मोती तो बन गया पर खून का रेशा मिल जाने से खर्रा नहीं बना। राजा ने कहा- तू तो अंधा है, तुझे कैसे पता चला? आँख वाला होता तो फिर भी बात समझ में आती। उसने उत्तर दिया राजन्! इसमें क्या पहचानना ? मैंने हाथ लगाकर देखा, अन्य मोतियों की अपेक्षा इसमें कुछ गरमाहट थी। खून गर्म होता है। उससे मैं सारी स्थिति भांप गया, इसमें देखने की क्या बात थी।

सारी बातें सुनकर मोतियों का व्यापारी घबराया और सोचने लगा मैंने भी तैश-तैश में कैसी बाजी लगा ली। सम्राट सोचने लगा -

आज मेरा काफी धन चला जाता। इसने मोती की सही परीक्षा करके मेरा धन बचा दिया। सम्राट ने घोड़े की परीक्षा करने वाले की तरह इसको भी ईनाम से नवाजा।

बन्धुओं! मोती परीक्षक ने तो परीक्षा कर ली पर आप और हम जिनवाणी में रहे हुए मोतियों की परीक्षा कर पाये हैं या नहीं ? यह अवश्य चिंतनीय है। मोती परीक्षक के चर्म चक्षु तो नहीं थे, पर अनुभव की आँखें थी। वह आँखें यदि जागृत हो जाए तो जिनवाणी में रहे हुए मोतियों की भी पहचान हो सकती है।

बन्धुओं! मैं दो चतुर परीक्षकों की बातें आपके सामने रख चुका हूँ। तीसरा और चौथा परीक्षक नर और नारी की परीक्षा करने में समर्थ है। नर और नारी की परीक्षा करने में तो आप भी हुशियारी रखते हैं। एक बहू लाते हो कितनी परीक्षा करते हो। अनेक कन्याओं को देखते हो, अनेक प्रकार से पूछताछ करते हो, तब कहीं एक कन्या को बहू बनाकर घर लाते हो, लेकिन साल-छः माह में ही एक घर के दो घर बन जाते हैं। एक चूल्हे के स्थान पर दो चूल्हे बन जाते हैं। अब आप ही विचार करें कि आपकी परीक्षा कितनी खरी निकली। आप का परीक्षण कैसा था, वह तो आप विचारें लेकिन उन अन्ध-पुरुषों द्वारा किया गया परीक्षण शत-प्रतिशत सही रहा।

सम्राट तीसरे व चौथे परीक्षक की परीक्षण लेने को आतुर बने। उन्होंने सोचा तीसरा अन्धा नर की परीक्षा करने में समर्थ है। क्यों न मैं अपनी ही परीक्षा करवा लूँ। महीधर ने उस तीसरे अन्ध से कहा तुम पुरुष की परीक्षा करने में समर्थ हो न ? उसने कहा- जी हुजूर। सम्राट ने कहा मेरी परीक्षा करके बताओ। परीक्षक ने कहा- अन्नदाता इस विषय में आप नहीं पूछे, यही ठीक रहेगा। अन्य किसी पुरुष की परीक्षा करवा लीजिए। राजा ने कहा नहीं हमारी ही परीक्षा करनी होगी। अन्ध परीक्षक ने कहा- हुजूर! जिद्द मत करिये, जो राज है, उसे राज ही रहने दें। अब तो सम्राट की जिज्ञासा और प्रबल हो गई। उसने कहा तुम्हें हमारे विषय में ही बताना होगा, निशंक होकर कहो। परीक्षक ने कहा- राजन्!

सत्य तथ्य यह है कि आप पूर्णतया क्षत्रिय राजा नहीं हैं। आप तेली के पुत्र हैं। यह मेरी परीक्षा कहती है। राजा ने बात को स्पष्ट करने के लिए कहा। राजा ने कहा- तुम ऐसा किस आधार से कहते हो ? उसने कहा- भूपेश! बात स्पष्ट है, क्षत्रिय उदार होते हैं। यदि पूर्ण क्षत्रिय राजा होते तो हमें कच्चा मकान, पाव आटा व एक छंटाक तेल नहीं देते। दूसरी बात मेरे दो भाइयों ने अपनी परीक्षण शक्ति से सही तथ्य उजागर किये, उनकी तरक्की आपने जिस रूप में की, वह क्षत्रिय राजा के अनुरूप नहीं है। इसलिए मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि आप पूर्ण क्षत्रिय राजा नहीं हैं। आप तेली के पुत्र हैं। इस तथ्य का निर्णय आप अपनी माता से पूछ कर कर सकते हैं। सम्राट तत्काल माता के पास पहुँचा, नंगी तलवार हाथ में थी, गरजता हुआ बोला माँ! बताओ मैं किसका पुत्र हूँ। माता ने कहा बेटा इसमें पूछने की क्या बात है। तुम अपने पिता के पुत्र हो। सम्राट ने कहा- नहीं बात कुछ और है, सत्य कही, अन्यथा अनर्थ हो जायेगा। माता ने फिर भी टालने का प्रयत्न किया। अन्ततोगत्वा उसने इस तथ्य को स्वीकार किया कि तुम गर्भ में थे तो एक बार एक तेली को देख मैं अनुरक्त हो गई थी। उसके साथ सहवास की प्रबल भावना बन गई थी, यह दोष मेरे से अवश्य हुआ था।

राजा ने चौथे परीक्षक को बुला कर रानी की परीक्षा लेने की बात कही। उसने कहा एक दिन महारानी जी मुझे भोजन कराएं तो मैं उनकी परीक्षा कर सकता हूँ। राजा ने वैसी व्यवस्था करवा दी। भोजन करने के पश्चात् परीक्षक ने कहा- राजन्! महारानी असली राजकुमारी नहीं है। निश्चित ही दासी पुत्री है। राजा ने खोज की तो सही पाया। परीक्षक से जब पूछा कि तुमने कैसे जाना तो उसने बताया भोजन के दौरान महारानी जी ने एक प्रसंग पर जिन शब्दों का प्रयोग किया वैसे शब्द शुद्ध क्षत्रिय पुत्री कर नहीं सकती।

बन्धुओं! आपने चार चतुर परीक्षकों की बात सुनी। वस्तुतः उनकी आन्तरिक प्रज्ञा, अनुभव प्रज्ञा इतनी विकसित थी कि वे तथ्य की गहराई तक पहुँचने में समर्थ हुए। हम भी राग-द्वेष की दो आँखों को



एक अनुभव की आँख बना पाएंगे तो हमारी प्रज्ञा भी तत्व परीक्षण में समर्थ हो जायेगी।

भगवान से पूछा गया - संक्लेश कैसे कम हो सकता है? भगवान ने कहा- श्रुत की आराधना करो, पर हम श्रुत की आराधना करते कहाँ है? आप टी.वी. की आराधना कर लेंगे। किताबों की कर लेंगे। आपके घरों में मिल जाएंगे- जासूसी कहानियाँ, उपन्यास, आदि-आदि, किन्तु धर्म-शास्त्र कितने मिलेंगे और यदि मिलेंगे भी तो अलमारी में बन्द मिलेंगे। श्रुत की आराधना हो नहीं पाती। यदि शास्त्र पढ़ भी लें तो शब्दों को पढ़ते हैं। शब्दों को कितना ही पढ़ लो। सिर्फ शब्दों को पढ़ने से कल्याण संभव होता तो अभवी संसार में क्यों भटकता ? वह कितना पढ़ लेता है? नोर्वे पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु तक पढ़ लेता है। किन्तु ऐसा पढ़ना किस काम का ? बात पढ़ने-सुनने की नहीं गुनने की है। भाव तक पहुँचने की है।

बंधुओं! हम चिन्तन-मनन करें। हम शरीर को न देखें। शरीर उजला हो या काला हो, बेढंगा हो, पर जरूरी नहीं कि उसमें रही हुई आत्मा भी बेढंगी हो। राजा जनक के दरबार में आत्मा की चर्चा चल रही थी। अष्टावक्र भी आये। जैसे ही वे आये, विद्वान खिल खिलकर हँस पड़े। ओह! ये आये हैं आत्मा की चर्चा करने। अष्टावक्र सुन रहे थे। जब विद्वानों ने हँसना बन्द किया, तब अष्टावक्र हँसने लगे। राजा ने पूछा- आप क्यों हँसे ? अष्टावक्र ऋषि बोले आप भी बड़े विचित्र हैं। जब आपकी परिषद हँसी, तब तो आपने पूछा नहीं और मेरे हँसने का कारण पूछ रहे हैं ? पहले इनसे पूछिये। राजा ने अपनी गलती मानते हुए सभासदों से पूछ लिया - आप लोग क्यों हँसे ? वे कहने लगे राजन् ! ये ऋषि आत्मा की चर्चा करने आये हैं। इनका शरीर काला-कलूटा, आठ जगहों से टेढ़ा-मेढ़ा है। ये क्या आत्मा की चर्चा करेंगे ? यह सोचकर हमें हँसी आ गई। तब राजा ने ऋषि से कहा- अब आप बताइये। ऋषि ने कहा- मुझे हँसी इसलिए आ गई कि यहाँ चर्चा तो आत्मा-परमात्मा की चल रही है। किन्तु यहाँ बैठे सारे चमार हैं, जो

शरीर की परख कर रहे हैं। इन चमारों की जमात में मोती रूप आत्मा की परीक्षा कौन कर पाएगा ? उन्होंने अपनी आत्मा का स्वरूप शब्दों से समझाया भी हो, किन्तु जिनकी दृष्टि चमड़े के कलेवर पर टिकी है वह आत्मा तक या शब्द से अर्थ व अर्थ से भाव तक नहीं जा पाएगी। जनक ने महसूस किया कि इन्होंने मुझे आत्मा का स्वरूप महसूस कराया है।

हमें भी समझना है और कलेवर रूप काची काया से ऊपर उठना है। हमने इस काया के लिए बहुत बड़ी पूँजी खर्च की है और यह उस पुण्यरूपी अमूल्य ऋद्धि के प्रताप से मिली है तो यह भी आवश्यक है कि इसकी प्राप्ति को सार्थक करें। इसे अमूल्य लक्ष्य की प्राप्ति में खर्च करें। पूज्य गुरुदेव फरमाया करते थे -

**नर तेरा चोला, रतन अमोला, विरथा खोवे मति ना.....।**

जैसे व्यापार में कमाई के उद्देश्य से पूँजी लगाई जाती है वैसे ही इस अनमोल नर-तन के लिए जो पूँजी लगाई गई है, उसका सही दिशा में उपयोग करें।

हम जगें, इस तन का संयोग मिला है, तो आत्मा तक पहुँचने का प्रयास करें, तो ही शरीर की महत्ता है, अन्यथा नर-तन पाना सार्थक नहीं होगा।

हम आत्मा के अनुसंधान में प्रवृत्त हों। उन चार अंधों के समान अपनी प्रज्ञा को जाग्रत करें। जैसे नर, नारी, अश्व, मोती आदि की पहचान कर ली थी, वैसे ही हमारी प्रज्ञा सम्यक् बने, प्रवीण बने और धर्म को समझ सके। इसके लिए आवश्यक है कि राग-द्वेष रूपी दो आँखों की बजाय हम एक ज्ञान की आँख, अनुभव की आँख प्रकट करें, ताकि तत्व का सही बोध पा सकें। किसी तीसरी आँख की प्राप्ति की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़कर आँखों की क्षमता को भी व्यर्थ न गँवाएँ।



## वंदन बनार्यें वंदन

प्रत्येक प्राणी चाहता है कि उसे सफलता मिले, वह जो भी कार्य करे, उसमें सफल हो जाये और हर कार्य में सफलता प्राप्त करता हुआ, वह लक्ष्य को प्राप्त कर ले, परन्तु इसके लिए तदनु रूप अनुगामिता की आवश्यकता होती है। तदनु रूप अनुगामिता का भाव नहीं हो तो लक्ष्य प्राप्त होना संभव नहीं। उदाहरण के रूप में धर्म की आराधना की जा रही है, किन्तु धर्म के साथ धन का भी लगाव है। धर्म का लगाव है किन्तु मन के किसी कोने में धन के प्रति गहरा अनुराग भी है। धन का ही नहीं, वह चाहता है कि वह पर्याप्त धन का स्वामी बन ऐश्वर्य सम्पन्न बने। चारों ओर उसका दबदबा रहे। प्रत्येक व्यक्ति उसकी बात स्वीकार करे, उसका जग में यश फैले। यश नहीं, सुयश फैले। क्योंकि यश सुयश भी होता है और कुयश भी। रूपलावण्य की भी उसे चाह रही है। वह चाहे काला-कलुटा ही क्यों न हो, पर चाहता है कि उसका रूप भी प्रभावक बने।

हरिकेश मुनि का रूप काला-कलुटा था। मुनि बनने के पूर्व वे किसी के पास बैठना चाहते थे तो कोई उन्हें बिठाना नहीं चाहता था। दूसरे बच्चे अपने साथ उन्हें खेलने नहीं देते थे। उनको बुरा लगता था। वे सोचते थे कि मैंने इनका क्या बिगाड़ा है जो ये मुझे नजदीक नहीं आने देते हैं? आज हमारे साथ ऐसा व्यवहार हो जाए तो हमें कैसा लगेगा। विचार कीजिये। मान लीजिये आप समाज की जाजम पर जाकर बैठें और कोई नाक सिकोड़ने लगे तो उस समय आपके क्या विचार बनेंगे? यही

न कि मेरे पास भी अच्छा रंग रूप होता, ऐश्वर्य होता, तो क्या मेरे साथ ऐसा व्यवहार होता? वह इनकी कामना करता है। कामना पूरी न होने पर खेद करता है। ज्ञानीजन कहते हैं कि वैसी अवस्था ऐसे ही प्राप्त नहीं होती। उनकी प्राप्ति में कर्मों का योग अपेक्षित है।

भगवान से पूछा गया- किन कारणों से व्यक्ति ऐश्वर्य सम्पन्न बनता है और किन कारणों से उसे सुयश प्राप्त होता है ? भगवान ने कहा-वन्दना करने से नीच गोत्र का क्षय होता है और उच्च गोत्र की प्राप्ति होती है। उसके आगे बताया वन्दना करने से जीव सौभाग्यशाली ऐश्वर्य सम्पन्न बनता है। साथ ही उसका पूरा दब-दबा रहेगा। इतना ही नहीं उनका सुयश भी फैलेगा, रूपवान बनेगा और श्रीयुक्त हो जाएगा। यही तो है सौभाग्य। यदि विधि-युक्त वंदन की भूमिका निभा ले तो सारी चीजें दौड़ी आती हैं। जिन चीजों की व्यक्ति चाह करता है, वे उसे प्राप्त क्यों नहीं होती? इसका कारण है। हमारे भीतर चाह है, किन्तु हमने चाबी लगानी जानी ही नहीं है। हम यदि शुभ भाव से वंदन कर लें तो भगवान कहते हैं ये सारी अवस्थाएं तुम्हारे चरण चूमेंगी। सुबाहुकुमार के लिए मूल पाठ में बताया गया है - **इष्टे, कंते, पिये, मणुण्णे, मणामे।** इष्ट, कांत, प्रिय, मनोज्ञ। इतना ही कहा गया आगे और भी कुछ कहा गया है। आगे कहा कि वह साधुजनों के लिए भी इष्ट, कांत, प्रिय था। उनके भी मन में होता था कि यह हमारे पास बैठा रहे।

मगध सम्राट श्रेणिक, महारानी चेलना के साथ भगवान के दर्शन करने आये। उन्हें देखकर कई साध्वियों ने निदान कर लिया कि हमें हमारी साधना का फल मिले तो श्रेणिक जैसा पति मिले और संतों ने निदान कर लिया कि हमें हमारी साधना का फल मिले तो चेलना जैसी पत्नी मिले। विचार कीजिए कि वे कितने रूप-लावण्य से संपन्न होंगे, कितने सौभाग्यशाली होंगे, कितने श्रीयुक्त होंगे जिनके प्रति आध्यात्मिक जीवन में रमण करने वाले साधु-साध्वियों का चित्त भी आकर्षित हो गया ? यह साधारण बात है क्या? यदि आज के साधु आकर्षित हो जाएं तो और बात है, पर उस समय के साधु-साध्वी जिस समय भगवान

महावीर स्वयं मौजूद थे तब उनके परिसर में बैठने वाले साधु-साध्वी आकर्षित हो गये। वे मोहित हो गये। यह क्या कम बात थी ? भगवान महावीर क्या कम रूपवान थे? मगध सम्राट से भी अनंत गुणा अधिक निखरा हुआ उनका रूप था और उनके साधु-साध्वी मगध सम्राट और चलना रानी पर आकर्षित हो गये। ऐसा कैसे हुआ ?

मुनि बलदेवजी के लिये कहते हैं कि जब वे नगर में गये, तब पानी भरने कुएं पर आई हुई बहिन का घड़ा तो पड़ा रह गया और उसके गोद में रहे बालक के गले में डोरी बांधकर कुएं में उतार दिया। इतनी आकर्षक अवस्था कैसे बनी थी, कैसे प्राप्त हुई थी ?

यदि जीवन में वंदन का गुण आ जाए तो भगवान कहते हैं - ये चीजें दौड़ी आती हैं, इनके लिए दौड़ना नहीं पड़ता। वंदन यदि शुद्ध भाव से किया जाता है, तो आत्मा शुद्धि होती है और अवान्तर रूप से सौभाग्य-सुयश आदि अवस्थाएं भी प्राप्त हो जाती हैं, पर ध्यान रखना आज महाराज ने व्याख्यान में कहा है इसलिए कामनापूर्वक वंदन मत करना। यदि कामना से किया तो सार्थक नहीं होगा।

मगध सम्राट श्रेणिक ने पहली बार वंदन किया, उस वंदन का फल कथा भाग में बताया गया है कि उनके छः नरक के बंधन टूट गये। उन्होंने विचार किया कि एक नरक का बंधन क्यों रखू ? एक बार और वंदन कर लूँ। भगवान ने कहा - **“णो इण्डे समट्ठे।”** रायां रा भाव राते ही गया। उस समय तुम्हारे विचार कुछ और थे किन्तु अब दूध में कुछ खून की बूंदें गिर गई हैं। वह दूध अब उपयोगी नहीं रहा। अब उसमें मुर्दा कलेवर पड़ गया है। भावना में स्वार्थ के कीटाणु प्रवेश कर गये हैं। वे बिलबिला रहे हैं। अब कामना पूरी नहीं हो पाएगी। जो नहीं चाहता है, उसे प्राप्ति होती है जो चाहता है उसे प्राप्ति नहीं होती। कभी भी देख लो जो चाहता है मेरी प्रशंसा हो, तो नहीं होती है। क्यों ? नीतिकारों ने कहा है- **“एक कन्या दुनिया में आज तक अविवाहित है।”** क्योंकि जिन्हें वह चाहती है, वे उसे नहीं चाहते और जो उसे चाहते हैं, उन्हें वह नहीं चाहती। इस कारण उसका सम्बन्ध नहीं हो पाता। वह कन्या है- स्तुति, जो उसे

चाहते हैं, वह उन्हें नहीं चाहती और जिसे वह चाहती है, वे उसे नहीं चाहते। फलस्वरूप स्तुति आज तक कुंवारी की कुंवारी है। अतः धर्म साधना चाह-रहित होनी चाहिए। चाह यदि कर ली कि अमुक लाभ की प्राप्ति के लिए उपवास या अन्य कोई धर्मासाधना कर लूँ तो उसका धार्मिक लाभ नहीं मिल पायेगा।

अभवी दुष्कर तपचर्या, कठोर साधुचर्या क्यों करता है? इसलिये कि देवलोक में दिव्य सुख मिलेगा और यहाँ भी 'मत्थण वंदामि' कहकर लोग वंदन करेंगे, सत्कार करेंगे, सम्मान करेंगे। देवलोक के सुख की कल्पना से वह कठोर साधना करता है। वह देवलोक का पुण्य तो प्राप्त कर लेता है, पर आत्मा का वैभव प्राप्त नहीं कर पाता। इस प्रकार धर्मक्रिया चाहपूर्वक की जायगी तो संभव है उसकी पूर्ति कभी हो जाय, पर आध्यात्मिक जीवन का वैभव प्राप्त नहीं हो पाएगा। इसलिए भगवान ने कहा है- वंदन करते हुए बत्तीस दोष टालने की आवश्यकता है।

आज वंदन-विधि को लोगों ने विकृत कर दिया है। शारीरिक स्थिति के कारण कभी पूरी विधि नहीं साध पाए तो उसकी बात अलग है। शारीरिक कारण से कभी साधु भी श्रमण जीवन की संपूर्ण क्रियाएं विधिवत् नहीं कर पाए तो कोई बात नहीं, शरीर की अनुकूलता नहीं हो तो सोये-सोये भी प्रतिक्रमण करना पड़ता है, किन्तु भावना विधिवत् करने की रखे तो लाभ होगा। कभी कोई विचार कर ले कि वंदन ही तो करना है, कर रहे हैं, विधि-अविधि से क्या मतलब? इस पर विचार करे कि युद्ध में, रण क्षेत्र में मोर्चे पर हर किसी को नहीं भेजा जाता कि लो पकड़ो तलवार और जाओ। कदाचित् वे चले भी जाएं तो क्या विजय प्राप्त कर पाएंगे? अकबर के जमाने में अनेक बार युद्ध हुए, मेवाड़ पर अनेक बार हमला बोला गया। टिड्डी दल की भाँति अकबर की सेना टूट पड़ती थी किन्तु मेवाड़ के प्रशिक्षित रण-बांकुरों के सामने टिक नहीं पाती थी, क्योंकि अकबर के सैनिक क्षेत्रीय स्थितियों से अनजान थे। उसी प्रकार अविधि से की गई वंदना, अनजान विधि से की गई वंदना से आध्यात्मिक जीवन में डटे नहीं रह सकते। आध्यात्मिक जीवन में सुयश प्राप्त हो

सकता है बशर्ते, नींव कमजोर नहीं होनी चाहिए। यदि नींव मजबूत हो तो उस पर सात मंजिल तो क्या, बम्बई में पैंतीस मंजिल तक की बिल्डिंग भी बनाई गई है। विदेशों में सौ-सौ मंजिल की बिल्डिंगें भी होती हैं। यदि नींव मजबूत ही तो कितनी ही मंजिलें बनाई जा सकती हैं। नींव ही कमजोर होगी तो महल कहाँ टिकेगा ?

धर्म का मूल क्या है ? आप कहेंगे विनय। विनय को मूल कहा गया है। वंदन को मूल कैसे कहें? बात ठीक है, किन्तु विनय वंदन के बिना फलीभूत नहीं होता। इसलिए हर कार्य से पहले वंदन करना चाहिये। गोचरी जाना है, प्रतिलेखन करना है, प्रश्न पूछना है, तो पहले वंदन करो, इसलिए वंदन महत्वपूर्ण है। वंदन से आध्यात्मिक वैभव और आत्मिक शांति तो मिलती ही है, जीवन में रस भी आता है। इसके अतिरिक्त शरीर है, तो शरीर की छाया भी होती है। देवों के शरीर की छाया नहीं होती, पर हमारे शरीर की छाया होती है। वंदना से शुभ-योग प्रवर्तित होते हैं तो जिससे छाया के रूप में पुण्य संचित हो जाता है। उसी पुण्य से व्यक्ति सौभाग्यशाली होता है। उसका मनोबल मजबूत और अप्रतिहत हो जाता है कि उसे कोई पराजित नहीं कर सकता। कृष्ण वासुदेव के सामने शिशुपाल और रूक्मकुमार जैसे कितने ही बड़ बोले आए पर टिक नहीं पाए। कृष्ण में इतनी ताकत आई कहाँ से ? कैसे आई ?

वे माता-पिता के प्रति शुरू से ही विनयवान थे। गुरु के यहाँ रहे तो यह नहीं सोचा कि मैं तो राजकुमार हूँ, मैं क्यों लकड़ियाँ बीजूं मैं पानी लाने का काम क्यों करूँ ? गुरु के प्रति विनय ररखी यह तो उचित था क्योंकि गुरु पढ़ाते थे, किन्तु गुरु -भ्राता के प्रति भी विनय ररखा यह उनकी महत्ता थी। उसी विनय-भावना से वे अजेय योद्धा बने थे। इस प्रकार विनय से वंदन करने से अंतर का आशीर्वाद मिलता है। यहाँ का नहीं मालूम किन्तु उधर बीकानेर की ओर कहते हैं “मैं क्या आशीर्वाद दूँ, मेरी आँतड़ियाँ आशीर्वाद देंगी। एक तो मुँह से कहें चिरंजीवी रहो और एक आत्मा बोले, दोनों के बोलने में कितना अंतर होगा, आप समझ सकते हैं।

एक लड़का है, किन्तु कहने में नहीं है, बात नहीं मानता है। शादी करके लाए, बहू आई। लोक-लाज से हाथ सिर पर रखते हैं। आज माता-पुत्र में, सास-बहू में संबंध जुड़ क्यों नहीं पाता ? यदि बहू दृढ़ संकल्प कर ले कि मुझे इस घर को अपना मानना है, आज्ञा का पालन करना है, तो भले दे सासू धक्का। एक बार देगी, दो बार देगी, चार बार दे देगी आखिर उसका दिल पसीजे बिना नहीं रहेगा।

पूज्य गुरुदेव, एक अस्सी वर्ष की डोकरी की बात फरमाया करते थे। जो झगड़े बिना रह नहीं सकती थी। बड़े सेठ की माँ थी। सेठ ने परिवार वालों को समझा दिया, इससे झगड़ो मत, लेकिन उसका तो खाना पचे नहीं। अब वह गाँव के घरों में जाकर लोगों से लड़ती। लोग परेशान हो गए। लोगों ने आकर सेठ से कहा, तो सेठ ने कहा- मैंने तो परिवार वालों को समझा दिया है, परिवार वाले तो लड़ते नहीं है इसलिए आप लोगों से लड़ती है। लोगों ने कहा- घर की यह आग (लड़ाई) पूरे गाँव में फैल रही है। सेठ ने कहा- आप लोग विचार करें क्या करना चाहिये। उन लोगों ने विचार करके कहा कि हर रोज एक व्यक्ति आकर इससे कमरे में ही लड़ लिया करेंगे। ताकि आग आगे नहीं फैले। ओसरा बांध दिया गया। अब कमरे में ही झगड़ा होता था गाँव में नहीं। संयोग से एक दिन उस घर कि बारी आई जिसके उसी दिन शादी करके नई बहू आई थी। बहू ने प्रणाम किया किन्तु सासू के मुँह से आवाज निकली ही नहीं। बहू ने पूछ लिया क्या बात है? आप परेशान क्यों है? क्या आपको मेरा आना अच्छा नहीं लगा ? सासूजी ने कहा ऐसी कोई बात नहीं है बहू! तुम क्या करोगी जानकर, रहने दो। बहू ने कहा मैं अब इस घर की सदस्या हूँ, आपका सुख-दुःख मेरा सुख-दुःख है। आप तनाव में रहें तो मैं कैसे हर्ष की अनुभूति कर सकती हूँ? सासू ने जैसे ही इन विनीत भावों को सुना तो उस बुढ़िया की बात बता दी और कहा आज अपने घर की बारी है। किसी को लड़ने जाना पड़ेगा। वह कलमुँही गालियाँ देती है, मैं नहीं चाहती कि आज ही तुमने घर में प्रवेश किया है और इस घर का कोई सदस्य ऐसी गालियाँ सुनें। बहू ने कहा उसके कहने से ही थोड़ी



कुछ हो जाएगा? रांड कहने से रंडापा थोड़े ही आ जाता है? हम ले लें, तो हमारा हो जाता है नहीं तो जिसकी चीज उसके पास, अपनी चीज अपने पास। अतः सासूजी आज मैं जाऊंगी। “अरे! बहू नहीं।” आज तो तुम्हारे सौभाग्य का दिन है, मैं नहीं भेज सकती।” बहू ने कहा- मैं इस घर की छोटी सदस्या हूँ, इसलिए मेरा हक है, मुझे भेज दीजिये। काफी आग्रह करने पर सासू ने अनुमति दे दी। बहू चरखा और सूत लेकर पहुँची। बुढ़िया कमरे में बैठी थी। बहू के पहुंचते ही उसने सुनाना शुरू कर दिया। बहू अपने काम में लगी रही। जवाब ही नहीं दिया। अकेले बोले भी तो कितना बोले। आखिर बुढ़िया थक गई। तब बहू ने कहा- “अब आपका काम हो गया? बस उसे तो ईंधन मिल गया” तू कौन है, मेरा काम का पूछने वाली और फिर गालियों कि बौछारें शुरू कर दीं। थोड़ी देर बाद बुढ़िया हैरान होकर चुप हुई। बहू ने कहा- आप थक गये होंगे। उसने फिर झगड़ा शुरू कर दिया। इस बार बोलते-बोलते वह बेहोश होकर भूमि पर गिर पड़ी। बहू ने पानी के छँटि डाले, पंखा झला, थोड़ी देर बाद बेहोशी टूटी तो बुढ़िया ने देखा कि वह तो उसकी सेवा कर रही थी। उसके मन को धक्का लगा, बोली- तू कैसी है ? कौन-सी धातु से बनी है ? आज तक जो मेरे सामने आया, पैर पकड़कर आँसू निकालता, विवश हो जाता और मुझे भी पाँच बातें सुनाता, लेकिन तुम न जाने किस धातु की बनी हो, जो सुनती ही रही” बहू ने कहा- आपके ये वचन कहाँ सुनने को मिलते। बड़े-बुजुर्गों के वचन बड़ी पुण्यवाणी से सुनने को मिलते हैं। आप किसी का अहित करने के लिए थोड़ी कुछ कहोगी। बुढ़िया पिघल गई, कहने लगी “तू तो मेरी गुरुवर्या बन गई। तेरे भीतर ऐसी प्रतिभा किस शिक्षा से आई? उसने कहा- कुछ तो मुझे घर में संस्कार मिले और कुछ संतों के पास जाने से, वहाँ वंदन आदि करने से मेरे मन में भाव बने कि मैं सहिष्णु बनूँ। उसी के कारण आज मैं जो हूँ, वह आपके सामने हूँ।

कहने का आशय है कि अस्सी वर्ष की बुढ़िया जो अब-तक नहीं सुधर पाई थी। उसके जीवन में एक नई बहू ने अपने व्यवहार से

परिवर्तन ला दिया। आज हम कहते हैं, सास-बहू में झगड़े होते हैं। एक-तरफा ताली नहीं बजती। बार-बार कहते हैं तो सामने वाले में भी उफान आ जाता है। नीचे आग जल रही है, तो दूध में उफान आएगा और उसकी बूँदें आग में गिरेंगी। उसे ठण्डा तो करेगी किन्तु जैसे ही आग तेज होगी, पुनः उफान आएगा और दूध बाहर निकलेगा। किन्तु वही दूध जब मावा बन जाय तो फिर आप नीचे कितना ही आग लगाओ, उफान आएगा क्या ? नहीं आएगा। वैसे ही एक सदस्य मावा बनकर रहे तो उफान नहीं आएगा। वस्तुतः व्यक्ति यदि परिवार में रहता हुआ, समाज में रहता हुआ, नम्र-विनम्र होकर रहे तो जीवन में कहीं कोई तनाव नहीं आ सकता।

आचार्यदेव (स्व.श्री नानालाल जी म.सा. ) अत्यंत विनम्र और मधुरभाषी थे। उनके संबंध में एक संत श्री रतनलाल जी म.सा. जिन्हें बात-बात पर गुस्सा आता था, एक दिन पूज्य श्री गणेशाचार्य से कहने लगे 'मुझे सारे संतों पर गुस्सा आता है, पर ये नवदीक्षित संत नानालाल हैं, इन पर गुस्सा नहीं आता और कभी इन पर करना भी चाहता हूँ तो कर नहीं पाता। देखिये आचार्यदेव का जीवन पहले से ही कितना सधा हुआ जीवन था। जब वे व्यापार करते थे, जो साझेदारी का काम था तब उन्होंने अपने साझेदार से कह दिया था- साझे के व्यापार में प्रेम ज्यादा दिन टिकता नहीं है। इसलिए मुझे गुस्सा आ जाय तो आप चुप रह जाना और आपको गुस्सा आयेगा तो मैं चुप रह जाऊँगा, तो ही काम चलेगा। वैसे ही परिवार में शान्ति-संतुलन बनाये रखें। यदि सासू को गुस्सा आये तो बहू शान्ति रखे और कभी बहू को गुस्सा आ जाये बार-बार सुने तो कभी रगड़ लग सकती है उस स्थिति में सासू सोच ले कि ये तो टाबर है। टाबर लात मार भी दे तो सह ली जाती है, तो शान्ति बनी रह सकती है। नहीं तो रोज टी.वी. का रामायण, महाभारत घर में देख लो।

बंधुओं ! मैं वंदना की बात बता रहा था। वंदना करने से अप्रतिहत गुण की प्राप्ति होती है। वन्दना करने वाला कभी पराजित नहीं होता। प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं और ऊपर से निकल जाती हैं,

परन्तु उसे प्रभावित नहीं कर पातीं। कहा जाता है समुद्र ने एक बार वैतरणी नदी से कहा, और नदियाँ तो मुझे कुछ न कुछ लाकर देती हैं लेकिन तू कभी कुछ नहीं देती है। इस पर वह नदी कहने लगी क्या करूँ स्वामी, मेरे किनारे बेंत की झाड़ियाँ हैं। मैं कभी उफान में होती भी हूँ और आपके पास कुछ लाना चाहती भी हूँ तो वे झुक जाती हैं, इसलिए उनकी जड़े उखाड़ नहीं पातीं और आप तक उन्हें ला नहीं पातीं। वैसे ही जो विभ्रम होते हैं उनकी जड़ें कोई नहीं उखाड़ सकता, किन्तु जो अहंकार से अकड़ता है कि मैं कितना ऊँचा हो गया, उसकी जड़ें टिक नहीं पातीं। हो सकता है एक दो प्रवाह निकल जायें किन्तु तीसरा प्रवाह आता है और उसे नीचे पटक देता है।

विनम्रता की स्थिति वंदना से बनती है। जिसे आप वंदना करना चाहते हैं, उसके गुणों को देखे तो वंदना ही पाएगी। एक व्यक्ति माता-पिता को तो नमस्कार नहीं करता, किन्तु संतों के सामने सिर झुका देता है, क्यों ? क्योंकि वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की परिणति है। इसलिए व्यक्ति वंदन करने को प्रवृत्त हो जाता है। अप्रतिहत और आस्थापूर्ण वंदना करने से वह आणाफलं को प्राप्त करता है। इन दोनों पदों का एक अर्थ भी हो सकता है और अलग-अलग भी। आज्ञा का फल सामान्य लाभ नहीं है। आज हम बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त करते हैं परन्तु आज्ञा के फल को प्राप्त करना सरल नहीं है।

भगवान महावीर की अंतिम देशना चल रही थी वे कहते हैं- गौतम! देवशर्मा को प्रतिबोध देने जाना है। यदि आचार्यदेव का संथारा चल रहा हो और हम से कहें कि अमुक कॉलोनी में जाना है तो कैसा लगेगा, हम सोच सकते हैं। लोग तो दौड़-दौड़कर जो साधन मिले, उससे पहुँच रहे हैं और हम से कह रहे हैं कि अमुक कॉलोनी में जाओ और तो ठीक है कमरे के बाहर जाने को भी कह दें तो भी मन में उथल-पुथल शुरू हो जाएगी।

भगवान महावीर और गौतम स्वामी का कितना गहरा संबंध था। वह उसी भव का नहीं पिछले कई भवों का संबंध था। गौतम के

अणु-अणु में महावीर बसे थे। कहते हैं हनुमान ने तो कलेजा चीर कर दिखा दिया था गौतम ने भले चीरा नहीं किन्तु यदि कोई गौतम का ऑपरेशन करता तो उनके रोम-रोम में महावीर की छवि अंकित पाता। उनके रोम-रोम में भगवान महावीर समाये हुए थे। उनसे कहा गया “जाओ प्रतिबोध देना है। उन्होंने भी मत्थाएण वंदामि कहा और चल पड़े प्रतिबोध देने। एक बार भी यह नहीं कहा कि यदि आज ही जरूरी नहीं हो तो कल या उधर से जब भी निकलूंगा, तब प्रतिबोध दे दूंगा। आज यदि ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाय तो शिष्य गुरु से कह देगा मैं अपने विचार रख रहा हूँ आप विचार लें, यदि उसके बाद भी मुझे जाना होगा तो चला जाऊँगा। ऐसे शिष्यों को विचार करना चाहिए कि क्या गौतम ने कही अपने मन की बात। वस्तुतः हमें यदि गुरु पर पूरा भरोसा है तो हमें कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। गुरु ने कहा है तो सोच-समझ कर ही कहा होगा। इस संबंध में नीतिकार भी कहते हैं- **गुरुणामाज्ञामविचारणीयाः।** भगवान ने कहा-जाओ और गौतम स्वामी पधार गये। भगवान ने उनका मोह हटाने के लिए उन्हें भेजा था। कई लोगों का कहना है कि भगवान के प्रति गौतम का मोह था। क्या यह बात सही है? बताइये उस समय भगवान को केवल ज्ञान था या नहीं? क्या वे नहीं जानते थे कि थोड़े समय के बाद ही गौतम स्वामी भी केवली बनने वाले हैं। इस प्रसंग से यह बात ध्वनित होती है कि भगवान जिस विनय का स्वरूप व्यक्त कर रहे थे, उस विनय का स्वरूप केवल उपदेशार्थ नहीं है। केवल लोगों के लिए आदर्श-वाक्य रूप नहीं है, अपितु वैसा विनय आचरणीय भी है। यह बताना आवश्यक था और गौतम स्वामी ने प्रभु की आज्ञा को स्वीकार कर विनय का आदर्श स्थापित कर दिया। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन में कहा गया है- **इंगियागार संपण्णे।** क्या होती है इंगिताकार की सम्पन्ता ? इसका आशय है- गुरु की सूक्ष्म चेष्टाओं एवं हावभावों को जानकर वैसी प्रवृत्ति करना। गौतम ने नमस्कार किया और रवाना हो गये। ऐसा आज्ञापालन का फल कब मिलता है? जब वंदना से ओत-प्रोत हो जाये मन।

वंदना के विषय में ही आगे बताया गया है कि वंदना से होने

वाले लाभ से दाक्षिण्य भाव की प्राप्ति होती है। दाक्षिण्य भाव का तात्पर्य है कि वंदना करने वाला दक्ष हो जाता है। वह जो भी कार्य करता है उसमें उसकी बुद्धि तत्काल लग जाती है। आपने चार प्रकार कि बुद्धि का वर्णन सुना होगा, उनमें एक वैनयिकी बुद्धि है। वैनयिकी बुद्धि जिसे प्राप्त होती है उसके लिए कहा गया है कि वह लिए हुए भार को ढोने में समर्थ होता है। औत्पतिकी आदि बुद्धि वाला भार को ठेठ तक पहुँचा पाये या नहीं, पर विनय बुद्धि वाला उसे पहुँचाता ही है। वैसी दक्षता कैसे प्राप्त होती है ? जब वंदना के भावों से वंदना हो।

आचार्य देव का एक जगह पदार्पण हुआ। एक व्यक्ति को देखा जो दिन के पौने चार बजे के लगभग आता था। सामायिक लेकर हाथ में किताब लेकर बैठता था। संत प्रतिलेखन करते थे। उसके हाथ में किताब अवश्य रहती थी, पर उसकी नजर संतों की ओर होती थी। हमारे एक संत थे- श्री कँवरचंद जी महाराज। उन्होंने कहा किताब पढ़नी है तो एक किनारे जाकर पढ़ो और नहीं पढ़नी है तो खोलकर हाथ में क्यों रखते हो? तुम्हें हमारी क्रियाएँ देखनी हैं तो आराम से देखो, कोई मनाही नहीं है। बीच में पर्दा क्यों रखते हो। माया-कपट क्यों रखते हो? यह तुम्हारी सामायिक में भी बाधक है। देखना है तो खुली आँखों से देखो। कहाँ मना है, किन्तु किताब बीच में मत रखो। कहने का आशय है कि व्यक्ति अलग-अलग मति के होते हैं। भगवान ने जो बताया है वह निरर्थक नहीं है, क्योंकि ऐसी-ऐसी मति के लोग भी होते हैं।

स्थूलिभद्र मुनि जी महाराज चौमासा करने गये कोशा के यहाँ। वहाँ से जब वे आये तो गुरु महाराज ने कहा- महादुष्कर कार्य किया है। यह सुनकर एक मुनि को ईर्ष्या हो गई। उसके मन में आया कि मैं भी वहीं चौमासा करके बता दूंगा। आने वाले चातुर्मास के लिए कोई दूसरा उस स्थान को मांग न ले, इसलिए पहले ही पहुँच कर कहा-“गुरुदेव। मैं कोशा की रंगशाला में चौमासा करना चाहता हूँ।” गुरु ने कहा-यह प्रशस्त नहीं है, ठीक नहीं है। शिष्य ने कहा आपने स्थूलिभद्र को तो आज्ञा दे दी थी, मुझे आज्ञा नहीं देते। यह भेद-भाव किस कारण है ? उस

जमाने में भी उनके मन में ऊँचे-नीचे भाव आ गये थे। ऐसा आज हो जाए तो आश्चर्य ही क्या है। सभी तरह के साधक होते हैं। कोई कैमरे की तरह होता है, जो ऊपर की आकृति को अंकित करते हैं तो कोई एक्स-रे की तरह होते हैं जो भीतर की तस्वीर लेते हैं। साधु बन गए तो क्या हुआ, साधु बनते ही तो सिद्ध नहीं हो गए। अभी तो साधक है। गुरु ने कहा-जैसी इच्छा। मुनि ने विचार किया मैं स्थूलिभद्र से बढ़कर चातुर्मास सम्पन्न करूँगा। फिर देखते हैं, मुझे क्या कहते हैं ? मेरे लिए भी महादुष्कर कहे तब तो ठीक, नहीं तो समझ जाऊँगा कि गुरुदेव स्थूलिभद्र को चाहते हैं, मुझे नहीं चाहते। यही तो हमारे तोल का मापदण्ड है। हमारे तराजू में ऐसे ही बाँट हैं। उन्हीं से हम तौलने का प्रयास करते हैं। उन महापुरुषों के मस्तिष्क में क्या भाव हैं, हम नहीं जानते, हम अपनी बुद्धि से उन्हें तौलते हैं। अपनी बुद्धि से तौलते रहे तो कभी पार नहीं पहुँचेंगे। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है- **न सिया तोत्तगवेसाए**। आचार्य के गुरु के छिद्रान्वेषी न बनें। यदि छिद्रान्वेषी बन गये, तो विनय नहीं रहेगा। विनय नहीं रहा तो लाभ नहीं मिलेगा। छिद्र हो यह जरूरी नहीं पर देखने वाला कहीं भी देख सकता है। जैसे बहुत सुन्दर बिल्डिंग है, कोई कसर नहीं है, पर जिसे कमी देखनी है, बतानी ही है, वह कहेगा -अटैच बाथरूम बना दिया। इधर वाशबेसिन लगा दी। इधर पीकदानी पड़ी है, कहीं न कहीं तो रखनी पड़ेगी। ताकि सारा समान गंदा न हो इसलिए एक जगह तो पीकदानी रखनी पड़ेगी। उसकी दृष्टि पूरे मकान में नहीं गई, पर पीकदानी पर टिक गई। मक्खरी कहाँ बैठती है ? यदि शरीर में कहीं घाव है तो वह वहीं पर जाकर बैठती है। वैसे ही गुणग्राही गुण पर दृष्टि डालता है और छिद्रान्वेषी छिद्र पर दृष्टि डालता है। जहाँ छिद्र ढूँढने की दृष्टि है वहाँ आज्ञा का फल घटित नहीं हो सकता। इसलिए भगवान ने कहा है जब वंदन करते हो तो यह भी मत देखो कि लोग तुम्हें देख रहे हैं या नहीं। लोग देखे तो आवर्तन देते हुए पूरी विधि सहित वंदन करना, ताकि लोग कहे कि इसकी वंदना का क्या कहना, बहुत विधिपूर्वक झुककर कर रहे हैं। यदि मन में ऐसा सोचे तो वह अविधि हो जाएगी।

यदि ऊँट की तरह थोड़ा बैठे, थोड़ा उठें, थोड़ा लचके, थोड़ा मचके इस प्रकार करें तो वह भी दोष है। मेंढक की तरह अर्थात् जैसे मेंढक उछल-कूद करता है, एक वंदन यहाँ की, दूसरी वहाँ की, यह भी वंदना का दोष है।

उववाई सूत्र में कहा गया है -मन, वचन और काया की एकाकारतापूर्वक वंदन करना। मन, वचन और काया किसमें एकाकार हो ? जिन्हें वंदन किया जा रहा है, उनमें। मन के अध्यवसाय वाणी व काया के साथ उनके प्रति केन्द्रित हो जाए, तो वहाँ की ऊर्जा आकर्षित होती है। चुम्बक के बीच यदि पर्दा हो तो वह लोहे को उतनी प्रबलना से आकर्षित नहीं कर पाएगा। वैसे ही विचारों में पर्दा लगा होगा तो गुरु की ऊर्जा ले नहीं पाएंगे। गुरु को वंदन करते हैं तो उनकी ऊर्जा हमारे भीतर प्रवाहित होती है। आप चरण के अंगुष्ठ को स्पर्श करते हैं। क्यों ? क्यों बतलाया अंगुठे का स्पर्श ? एक्यूप्रेशर सिद्धांत में बताया जाता है कि पूरे मस्तिष्क की संचालन शक्ति अंगुठे में रही हुई है। हाथ से आप स्पर्श करें या मस्तक के आज्ञा चक्र के भाग से चरण-स्पर्श करना चाहिए। चरण स्पर्श करने से भी यदि कहीं आशातना हो जाय तो आप 'इच्छामि खमासमणो' में कहते हैं - यदि स्पर्श करते हुए आपको पीड़ा हुई हो, अवज्ञा हुई हो, तो क्षमा प्रदान करें। हमारे जैसे व्यक्ति कह देंगे कि इतना धीरे से स्पर्श करने में भी असाता हो तो स्पर्श करना ही नहीं चाहिए। ऐसी बात ठीक नहीं है। यदि एक व्यक्ति के पास करोड़ों की सम्पत्ति है, करोड़पति है तो कहीं आवश्यकता पड़ने पर पाँच-पचास खर्च भी करने पड़ते हैं। यदि आवश्यकता होने पर भी पाँच-पचास खर्च नहीं करे तो वह कंजूस या कृपण कहलाता है। वैसे ही जहाँ आवश्यकता है, तो वहाँ स्पर्श करना चाहिए परन्तु ये नहीं कि उनकी अवज्ञा, आशातना कर दें।

वंदना में तीन आवर्तन का विधान है। आवर्तन का अर्थ होता है गुरु की प्रदक्षिणा करना। पूर्व में उसी तरह से प्रदक्षिणा दी जाती थी। ऐसा लगता है कि वर्तमान में वैसा संभव नहीं होने से अब तीन बार हाथों से आवर्तन देकर फिर दोनों घुटने जमीन पर टेककर, मस्तक झुकाना, फिर उनका गुणानुवाद करते हुए **कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेड्यं**

**पज्जुवासामि** कहकर फिर मत्थण वंदामि कहते हुए मस्तक झुकाना। वंदनीय को लेकर भी आज कई ऐसी बातें उठती हैं वे म्हारा महाराज है इसलिए वंदना करनी, म्हारा नहीं है तो नहीं करनी। महाराज भी बँट गये। जैसे राजनीति में नेता बँट हुए होते हैं।

साधु कौन? यह भी साधु, वह भी साधु। साधु-साधु सब एक हैं। ऐसा मानना भी उचित नहीं है। शास्त्रकारों ने एक बात कही है - **“अरिहंतो महदेवो, जावज्जीयाए सुसाहुणो गुरूणो।”** सुसाहुणो कौन? जो साध्वाचित सत्ताइस गुणों के धारी हों, कनक-कान्ता के त्यागी हो। आप यदि सत्ताइस गुणों को ध्यान में नहीं ले सके तो पूज्यपाद श्री श्रीलाल जी म.सा. फरमाया करते थे-

**ईया भाषा एषणा, ओलखजो आचार।**

**गुणवन्त साधु देखने, वंदजो बारम्बार॥**

गुणवन्त शब्द आया है। कोई रीति-नीति, संप्रदाय का भेद नहीं है किन्तु गुणवन्त होना चाहिए। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि जो पार्श्वस्थ, कुशील हैं, उन्हें वंदना नहीं करनी चाहिए, बल्कि करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना चाहिए। यदि करे तो दोष के भागी होंगे। पार्श्वस्थ अर्थात् जैसे आप सामायिक में कपड़े उतारकर पास में रखते हैं, वैसे ही उसने व्रत-नियम पसवाड़े रख दिये हैं या व्रत-नियम को पास में रखा है। अपने तथा व्रत-नियम के बीच दूरी कर ली है। एकमेक अवस्था नहीं है। ऐसे साधु पार्श्वस्थ कहलाते हैं। स्वच्छन्द अर्थात् मन मुताबिक चले, मैंने जो मान लिया वही नियम है। उनके प्रति वंदना का निषेध किया गया है। इस प्रकार का निषेध तीर्थकर देवों की वाणी में प्राप्त है। वंदनीय के लिए संप्रदाय आदि का भेद नहीं होना चाहिए। यदि भगवान की आज्ञा के अनुरूप आचार-विचार-व्यवहार है तो वंदना करने में कोई दोष नहीं। चाहे किसी भी संप्रदाय का हों।

संवत् उन्नीस सौ नब्बे के अजमेर सम्मेलन में कई सम्प्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। आचार्य पूज्यपाद ज्योतिर्धर जवाहराचार्य



भी पधारे थे। यद्यपि पहले पाँच संतों को प्रतिनिधि बनाकर भेजने का विचार किया गया था, क्योंकि पच्चीस संतों पर एक प्रतिनिधि का विधान था। संतों ने कहा- गुरुदेव आप पधारिये। उन्होंने कहा मैं जाऊँगा तो मैं अकेला ही प्रतिनिधित्व करूँगा। पांच प्रतिनिधि नहीं होंगे। संतों ने कहा आप पधारिये। क्योंकि वहाँ सम्मेलन में उन्हें एक संदेश देना था। संदेश यह था कि संघ का नेता एक हो, संघ एक के नेतृत्व में चले। यदि संघ एक के नेतृत्व में नहीं चलेगा तो एक-एक साधु सोचेगा कि यह मेरा चेला, यह मेरा श्रावक, ये मेरे घर, ये तेरे घर। यह विभेद फैलेगा। ऐसे में धर्म आराधना कैसे सम्भव होगी ? इसलिए उन्होंने कहा कि मैं जाऊँगा तो पूरे सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व मैं अकेला करूँगा। संतों ने कहा - आप पधारिये। वे पधारे। उन्होंने वहाँ की सारी स्थिति को देखा तो कहा मैं आया जरूर हूँ पर प्रतिनिधि के रूप में शामिल नहीं होऊँगा। मुझे इससे कोई मतलब नहीं है कि अमुक सम्प्रदाय के आचार-विचार कैसे हैं। जो भी उनके आचार-विचार हो उनके प्रतिनिधि आये, शामिल हुए, यह सब तो ठीक है किन्तु यहाँ एकल विहारी को भी प्रतिनिधि के रूप में शामिल कर लिया गया है, इसे मैं भगवान की आज्ञा के अनुरूप नहीं मानता। इसलिए मैं शामिल नहीं हो सकता और वे प्रतिनिधि के रूप में शामिल नहीं हुए। वे परामर्शदाता के रूप में रहे। उन्होंने कहा- यहाँ जो भी संयमी जीवन के लिए हितकारी नियम होंगे, उनका पालन सम्प्रदाय में करवाने की जिम्मेदारी मेरी है। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि जितने भी एकल विहारी हैं, वे अमुक समय तक किसी गच्छ में शामिल हो जाय या वे मानते हों कि सम्प्रदायों में चलने वाले ढीले हैं, शिथिल हैं, हम क्रिया उद्धारक हैं, तो जितने क्रिया उद्धारक हैं और दूसरे सम्प्रदाय में शामिल नहीं हो सकते हों तो वे सब मिलकर एक सम्प्रदाय बना लें। वे दूसरे सम्प्रदाय में मिल नहीं सकते तो परस्पर मिलकर तो रह ही सकते हैं। पर अस्सी वर्ष की डोकरी की तरह सब का स्वभाव हो तो मिलकर रह सकते हैं क्या ?

एकल विहारी क्या होता है, उसकी क्या चर्या होती है, क्या आचार होता है, इसका आगम में उल्लेख है। कहने का आशय है कि जहाँ

वैसी स्थिति हो तभी उन्हें एकल विहार करने कि आज्ञा है, अन्यथा नहीं। यदि यहाँ उन्हें प्रोत्साहन दिया गया तो संघ की व्यवस्था सही तरीके से सम्पादित नहीं हो सकेगी। तोड़-फोड़ रहेगी। पार्श्वस्थ, स्वच्छंद, एकलविहारी को सम्मान मिलेगा तो वह सोचेगा- मुझे तो सम्मान मिल रहा है, मेरी दुगडुगी बज रही है, मुझे सुधार करने से क्या मतलब ? उस समय तो कुछ माहौल बना, किन्तु फिर ढाक के तीन पात की स्थिति रह गई। साधु-साधु एक हैं, तो वंदन करने में क्या हर्ज है।

भगवान ने कहा है- सभी साधुओं को वंदन करना है पर 'सुसाहुणो' होने चाहिए। किन्तु जो पार्श्वस्थ हैं, स्वच्छंदी हैं, उन्हें भी सम्मान दिया तो हम उनका पोषण करने वाले बनेंगे। कभी कोई सोचे कि वंदना कर लेने मात्र से क्या हो जायेगा तो यह गलत है। भाष्यकारों ने कहा है - यदि उन्हें वंदन किया तो यश-कीर्ति नहीं होगी। उस पर भी यह विचार कर लें कि कोई बात नहीं यश-कीर्ति न भी हो, क्या फर्क पड़ता है? तब कहा गया काय-क्लेश होगा, निर्जरा नहीं होगी। ऐसे विचार कोई रख सकता है कि संसार में हम बहुत से काम काय-क्लेश के करते हैं, एक यह भी सही, तब आगे कहा गया है- अज्ञान कर्म का बंध भी होता है। यश कीर्ति, निर्जरा नहीं होगी। चलेगा, पर अज्ञान कर्म का बंध होगा, तो संसार से छुटकारा नहीं हो सकेगा। अज्ञान कर्म का बंध संसार में परिभ्रमण कराने वाला होता है। इसलिए शास्त्रकारों का यह दृष्टिकोण है। आप कहेंगे यह भेद-भाव क्यों ?

ज्योतिर्धर आचार्य पूज्य जवाहर एक दृष्टान्त देकर समझाते थे- चंपा की माला है किन्तु अशुचि में पड़ी है, तो क्या धारण करने योग्य है ? अशुचि से अलग कर लें तो भले धारण की जा सकती है। यदि सोने की कटार है तो क्या पेट में भोंकने के लिए है ? वैसे ही वंदना आध्यात्मिक जीवन के उत्थान के लिए है न कि पतन के लिए। वंदना के तौर-तरीके जानकर आत्म-शुद्धि के भाव से करें तो आत्मिक शांति प्राप्त होती है। विनय द्वारा ही हमारा जीवन-वृक्ष फलता-फूलता और लहराता है। झुकता कौन है ?

**आम झुके, इमली झुके, झुके तो दाडम-दाख।**

**एरंड बिचारा क्या झुके जिसकी ओछी साख।।**

जो जातिवान होते हैं, वे झुकते हैं। वृक्ष फलों के कारण झुकते हैं। वैसे ही जातिवान आज्ञा का फल पाता है। वीतराग देवों की आज्ञा पालने वाला, मोक्ष का फल प्राप्त करता है। वंदना बहुत ही महत्वपूर्ण है।

**बली कार्तिक सेठे, पडिमा वही शूरवीर।**

**जम्यो मोहरा ऊपर, तापस बलती खीर।।**

सुना कभी आपने कार्तिक सेठ के वृतांत को? उन्हें नमाने का, वंदन कराने का कितना प्रयत्न किया गया, क्या वे परपाषंडियों के प्रति नमो ? क्या उन्होंने उन्हें वंदन नमन किया। नहीं किया। कार्तिक सेठ को उपसर्ग आया, मंजूर कर लिया। तापस ने अपना बल दिखाते हुए मोहरों (पीठ) पर थाल रख कर भोजन खाया। राजाज्ञा से कार्तिक सेठ को स्वीकार करना पड़ा, परन्तु उन्होंने वंदन नहीं किया यह उनका निश्चय था, वे अपने व्रतों की दृढ़तापूर्वक सम्यक पालना करके अवसर आने पर काल धर्म को प्राप्त हुए और देवलोक में शकेन्द्र का पद पाया। वहाँ से च्यव कर संसार को पार कर लेंगे। यह हुआ आज्ञा पालन का फल।

हमें भी ऐसी दृढ़ता प्राप्त हो सकती है। बशर्ते हमारे भीतर भी ऐसा गुण आ जाये। हम इतने दृढ़ बन जाये कि डिगाने से भी न डिगें। कामदेव जैसे श्रावकों ने परीक्षा दी पर यहाँ तो मच्छर भी डिगा देता है देव की बात तो दूर रही। देव आ जाय तो उठ कर उसे ही वंदन करने लग जायें। लोग रिजल्ट चाहते हैं। रिजल्ट कब आता है? जब पहले परीक्षा दें। जब परीक्षा का नाम सामने आता है, तो हाथ-पैर ढीले पड़ जाते हैं। जैसे कि एक विद्यार्थी कहता है- **‘कांपती है रूह मेरी, बस एक इम्तिहान से।’** हाथ- पैर ढीले पड़ जाएं तो फल कैसे मिलेगा ? फल पाना है तो धर्म पर डट जाना होगा। **धर्म पर डट जाना है, वीरों का काम...** जो आवाज आनी चाहिये थी वह नहीं आयी। मैंने कहा था आवश्यकता है तो पांच-पचास खर्च करना पड़ता है। नहीं करे तो उसे क्या कहेंगे? कंजूस! एक

बार फिर उच्चारण करें -

### **धर्म पर डट जाना है, वीरों का काम।**

जो कार्य अकेले के लिए भारी होता है वह कार्य समूह से हल्का हो जाता है। एक-एक ईंट सब उठा लें तो ढेर जल्दी उठ जायेगा। बड़े बोले, तो फिर दूसरे अपने आप अनुसरण करते हैं। लगन लगनी चाहिए। आम्र मंजरी आये फिर कोयल से कहें कि चुप रह जा, पर कोयल कूके बिना नहीं रह सकती।

**धर्म पर डट गये हरिश्चन्द्र दानी।,**

**जिन्होंने भरा नीच घर पानी।।**

**सत्य को नहीं तजना, है वीरों का काम।**

एक पाठ आता है। - 'चइत्तु देहंन तु धम्मसासण' ऐसे भाव खून के कतरे-कतरे में, अणु-अणु में व्याप्त हो जायें तो जैसे गौतम का ऑपरेशन करते तो उनके अणु-अणु में महावीर की छवि मिलती, हनुमान के कलेजे में राम मिले, तो हमारे रोम-रोम में भी तो भगवान का वास हो सकता है। ऐसे दृढ़ आस्था बन जाये तो वही वंदन रूपी विनय जीवन को आनंदित बना सकता है।

आप जर्गे! साधु न बन सके तो अधिक से अधिक निवृत्ति लेकर धर्म आराधना की ओर बढ़े तो कल्याण की दिशा में गति होगी। जितने बढ़ेंगे जीवन उतना ही आनंद से सराबोर होगा।

आचार्य देव भोपालगढ़ पधारे। इधर आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. भी पधारे। आचार्य देव पधारे, तब आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. बड़े थे, फिर भी उठकर सामने पधारें। परस्पर में वात्सल्य और सोहार्द्र का भाव बना। आचार्य श्री (श्री नानालाल जी म.सा.) ने यह नहीं सोचा मैं एक महान सम्प्रदाय का आचार्य हूँ, कैसे वंदन करूँ ? जो बड़े संत थे, उन्हें वंदन किया। अभी आचार्य श्री हीराचन्दजी म.सा. पधारे, उधर श्री सेवंतमुनि जी म.सा. बड़े थे, तो उन्होंने भी वंदन किया। ये ठीक है कि बड़े संत मना करते हैं, मान रखते हैं किन्तु आचार्य बनने के बाद वह

सोचे कि मैं बड़ों को वंदन नहीं करूँ तो जिनमें विनय का गुण नहीं है, वे अपने शिष्यों को कैसे सिखायेंगे? आज भी आचार्य श्री हीराचन्द जी म.सा. के समाचार आते हैं, विचारों का आदान-प्रदान होता है। बीच में आचार्य कल्प श्री शुभमुनि जी पधारे, आचार्य देव से मिले। वार्तालाप का प्रसंग बना। उन्होंने एक बात बड़ी महत्वपूर्ण कही -

श्री घासीलाल जी म.सा. ने ग्रंथ लिखे, टीका लिखी, फिर उन्होंने सम्मति के लिए उन ग्रन्थों की प्रतियाँ पं. रत्न श्री जीतमल जी म.सा. एवं श्री लालचन्द्रजी म.सा. के पास भेजी। श्री लालचंदजी म.सा. ने एक बात कही, जो शिष्य गुरु का विनय नहीं कर सकता, वह शास्त्र लिखे तो दूसरों को क्या विनय सिखायेगा ? और उन्होंने प्रतियाँ लौटा दीं। शिष्य के रोम-रोम में गुरु का वास होना चाहिए, तभी उसके जीवन की सार्थकता है। अन्यथा ज्ञान कितना भी हो जाये, तिराने वाला नहीं बनेगा। वंदना एक ऐसा माध्यम है, जिससे हम विनय-धर्म में आगे बढ़ते हैं एवं अपनी चिराकांक्षित मंजिल को प्राप्त करने में सफल बनते हैं। वंदना के स्वरूप को जानकर तद्स्वरूप आचरण करेंगे तो हमारा जीवन उच्च-अवस्था को प्राप्त कर पायेगा।



## वाह रे ! तर्क

### शांति जिन एक मुझ विनति....।

हम देखते हैं कि संसार के जंजाल से विरक्त होकर अनेक आत्माएं दीक्षित होती हैं किन्तु विचारणीय यह है कि दीक्षा स्वीकार करने का उनका उद्देश्य क्या होता है? किस कारण दीक्षा स्वीकार की जाती है? आज यह चर्चा का विषय बना हुआ है। यद्यपि यह एक बहुत पेचीदा विषय है तथापि सरलीकृत रूप में हम कह सकते हैं- दीक्षा आत्मकल्याण के लिए ली जाती है। किन्तु समाज उसे किस रूप में देख रहा है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। कई व्यक्ति कहते हैं कि बहनों की दीक्षा ज्यादा होती है क्योंकि परिवार वालों के पास दहेज देने को नहीं होता है, परिणामस्वरूप बहनों की दीक्षा अधिक हो रही है अथवा खाने-पीने के पर्याप्त साधन सुलभ न होने के कारण दीक्षाएँ हो रही होंगी। ऐसी एक नहीं अनेक धारणाएँ जन-मानस में व्याप्त हैं। इसके पीछे कारण भी है। अतः ऐसी धारणाएँ निर्मूल भी नहीं हैं। अतः जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं उनके पास उनका तर्क यह होता है कि जब वे त्याग-वैराग्य से साधु बनते हैं तो फिर भौतिक चकाचौंध में क्यों फँस जाते हैं ? कई स्थानों पर ऐसी भी स्थितियाँ हैं कि पहले से ही बच्चों को उनके माता-पिता से माँगकर अपने पास रख लेते हैं। लालन-पालन संत-सतियों की देखरेख में होता है। फिर अवस्था प्राप्त हो जाने पर परिवारवालों को बहुत सी सहयोग राशि अर्पित कर दीक्षा दे दी जाती है। ऐसे कई कारण हैं जो भ्रांत धारणाओं का आधार बन रहे हैं। ऐसे कई उदाहरण भी मिल सकते हैं कि

जो उत्कृष्ट त्याग और वैराग्य से साधु बनता है बाद में उसके लिये साधु-जीवन का पालन करना दुष्कर हो जाता है। सिंह की तरह दीक्षा लेकर सियाल की तरह हो जाता है। इसलिये सिंह की तरह दीक्षा स्वीकार करने के बाद भी साधु-जीवन में जो आनंद आना चाहिए वह आ नहीं पाता। जिससे धीरे-धीरे अध्यवसाय डाँवाडोल हो जाते हैं। उसने सिंह की तरह दीक्षा अवश्य ली थी, पर अब कायर बन सियाल की तरह पालने लग जाता है। सियाल की तरह पालता हुआ भी हेकड़ी रखता है, लोगों को दिखाता है कि मैं तो भगवान के बताये मार्ग पर ही चल रहा हूँ।

आप विचार करेंगे कि यह कैसी स्थिति है। मैं इसे स्पष्ट कर रहा हूँ। ऐसा साधक तर्क देता है कि जब भगवान महावीर नौका-आरोहण कर सकते थे और स्थूलिभद्र कोशा के यहाँ चातुर्मास कर सकते थे, तो हमें कहाँ रूकावट है ? भगवान महावीर के नौका-आरोहण के संदर्भ में वह विचार करता है कि भगवान महावीर के युग में मारुति, इम्पाला जैसी कारें नहीं थीं, होती तो भगवान भी उनका उपयोग स्वीकार कर लेते। ऐसी चर्चा करने वाले जरा यह तो सोचे कि भगवान महावीर तो अपने केवल ज्ञान के आलोक में इस विकास की स्थिति को देख रहे थे। या नहीं ? जब भगवान अपने ज्ञान-आलोक में विकास की स्थिति को देख रहे थे, तब प्रश्न होता है कि उन्होंने इन वाहनों की अनुज्ञा क्यों नहीं दी ? उनके द्वारा अनुज्ञा नहीं दी गई, इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि भगवान को उक्त साधनों का उपयोग साधु द्वारा होना उचित नहीं लगा। यदि उनको यह उचित लगा होता कि आने वाले काल में ऐसे द्रुतगामी वाहन, वायुयान आदि होंगे और साधु यदि उनसे उड़ान भरेगा तो केवल भारत में ही नहीं किन्तु विश्वभर में धर्म के जहाज को पहुँचा सकेगा तो वे अवश्य अनुज्ञा देते। पर किसी भी शास्त्र में एक भी ऐसा सूत्र प्राप्त नहीं होता है, जहाँ इस प्रकार की अनुज्ञा प्रदान की गई हो। अनुज्ञा प्रदान की गई हो या न की गई हों, हमें यदि अपनी बात जमानी होती है, तो हम ऐसे तर्क भी दे देते हैं कि हर बात की आज्ञा नहीं दी जाती, यह तो देश-काल के आधार पर हमें ही सोचने की आवश्यकता होती है।

पर ऐसे लोग यह नहीं सोचते कि देश-काल के आधार पर कितना सोचना? क्या सोचना? देश काल को लक्ष्य में रखकर उतना ही परिवर्तन किया जा सकता है जिससे अहिंसा की भावना को ठेस न लगे, वह परिपुष्ट हो, अहिंसा की भावना को ठेस लगाकर कोई भी परिवर्तन करने का ऐसा अधिकार किसी को नहीं है। किन्तु इस प्रकार के विचारों और मर्यादाओं को अनदेखा कर साधक युग की हवा के प्रभाव में आकर गाड़ी में चलता और वायुयान में उड़ता ? वायुयान में बैठकर प्रचार करो, इस प्रकार कहकर दुनिया दिग्भ्रमित करते हुए अपने क्रियाकलापों को सही साबित करने के लिए तर्क यह देते हैं कि आज का युवा वर्ग चाहता है कि धर्म का फैलाव करना है, तो विचारों में क्रान्ति लानी होगी। वक्त के हिसाब से चलना होगा। ऐसा करने पर ही भारत से बाहर भी धर्म को पहुँचाया जा सकता है एवं धर्म का प्रचार किया जा सकता है। इसलिए वे कहते हैं आप लोग भारत में सिमट कर रह गये। यहाँ सिमट कर रहने में क्या फायदा ? यहाँ के लोग तो मंदिर के कबूतर हैं। इतना सुनते हैं फिर भी बीड़ी, सिगरेट, गुटका, तम्बाकू तक नहीं छोड़ सकते ? आप अपनी ऊर्जा क्यों लगा रहे हैं ? कितना ही ढोल बजाते रहो, ये थोड़ी देर के लिए उड़ भी गए तो फिर आकर यहीं बैठ जाएंगे। इसलिए उड़िए, मॉडर्न बनिये। यदि आप अमेरिका, रूस, जापान आदि देशों में जाकर वहाँ महावीर की बातें कहेंगे तो वे लोग प्रभावित होंगे, व धर्म को स्वीकार करेंगे। युग की आवाज यदि आप नहीं सुनेंगे तो बाद में पश्चात्ताप के अलावा हाथ में कुछ नहीं रह जाएगा।

तर्क बड़े मन को लुभाने वाले हैं, किन्तु उन्हीं से पूछिये कि यह तो बताइये कि आपने वहाँ जाकर क्या किया है? अमेरिका, जापान, रूस आदि में कितना प्रचार किया है? आज नहीं 50 वर्ष बाद वहाँ की जनता कहेगी कि जिनके साधु वायुयान में उड़ते हैं उनके भगवान् महावीर भी वायुयान में उड़ते रहे होंगे। महावीर भी स्त्रियों से हाथ मिलाते रहे होंगे? वे भी गृहस्थ के घर भोजन करते रहे होंगे? क्योंकि वे जैसे साधु के आचार को देखेंगे उसी के आधार पर वे भगवान महावीर की



जीवन-चर्या के संबंध में धारणाएं बनायेंगे। किसी के कुल के पूर्वज कैसे हुए थे। यह जानने के लिए उस कुल की वंश परंपरा में जो सामने हैं। वर्तमान में है उनको देखकर उनकी जीवनचर्या, व्यवहार आदि के आधार पर विचार बनता है कि इनके पिता या इनके दादा का आचरण ऐसा रहा होगा। वैसे ही वर्तमान के साधुओं की जीवनचर्या के आधार पर वे भगवान महावीर की जीवनचर्या के संबंध में विचार बनायेंगे। क्योंकि उनका अनुभव सीमित होगा, शास्त्रों का अभ्यास उन्होंने किया नहीं होगा, इसलिए आज के साधुओं को देखकर वे सोचेंगे कि भगवान महावीर भी मंत्र-तंत्र ताबीज करते रहे होंगे। वे भगवान महावीर को भी इसी रूप में देखेंगे। इस प्रकार भगवान महावीर का चित्रण विकृत रूप में होगा, तो सोचिये कि वह उनका प्रचार होगा या कुप्रचार होगा? हमें उसकी चिन्ता नहीं है। बंधुओं! हमें समय की स्थिति को देखना है। मेरा मतलब घड़ी से नहीं, आज के युग से है। हम निरन्तर फिसलते चले जा रहे हैं ? यदि यही फिसलन बनी रही तो भगवान ने जो कहा था कि मेरा शासन 21,000 वर्ष तक चलेगा, तो क्या इसी फिसलन के आधार पर चलेगा? भगवान महावीर ने तो यह भी कहा था कि इसमें उतार-चढ़ाव आएगा, कभी यह गड़ढे में भी जाएगा और कभी ऊपर भी उठेगा। नदी बहती है, तो एक सी नहीं बहती। कभी ढलान भी आता है, तो कभी चट्टान भी, किन्तु प्रवाह चलता रहता है। उसी प्रकार भगवान का यह धर्म निरन्तर बढ़ता रहेगा।

वस्तुतः विचार करें तो धर्म का प्रचार-प्रसार तो केवल कर्णप्रिय शब्द है। हकीकत यह है कि व्यक्ति अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते हैं व कर रहे हैं। सत्य तथ्य है कि जो स्वयं धर्म के मर्म को नहीं जान पाए वे दूसरों को धर्म का मर्म क्या बता पाएंगे ? धर्म प्रचार का नहीं जीने का विषय है। जो धर्म में जिया जाता है, उससे स्वतः प्रचार होगा। भगवान का लक्ष्य मात्र प्रचार का ही होता तो उनके पास अनेक वैद्रीय लब्धिधारी मुनि थे, वे लब्धि प्रयोग से बहुत अच्छी तरह से प्रचार कार्य कर सकते थे। किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया क्योंकि वे उसे उचित नहीं मानते थे।

कुछ इस प्रकार के भी साधक हैं जो कहते हैं कि भगवान ने कपड़े नहीं पहने, मुंहपत्ति नहीं बांधी, इसलिए हम भी कपड़े नहीं पहनते। उनका कहना है कि भगवान ने जैसा आचरण किया, हम भी वैसा ही आचरण करेंगे। पर कोई उनसे पूछे कि भगवान ने कमण्डल और पिच्छी कब धारण की, तो उनके पास से इसका सही उत्तर मिलना कठिन है। पूज्य गुरुदेव इस संदर्भ में एक अत्यंत अर्थपूर्ण दृष्टांत फरमाया करते थे-

एक व्यक्ति अपने पूरे परिवार को लेकर पिकनिक मनाने गया। चलते-चलते रास्ता भटक जाने से एक भयानक जंगल में पहुँच गया। जैसे आपके पिपली के घाटे में कोई गलत पगडंडी पर बढ़ जाये तो आगे जाकर रास्ता बंद मिल सकता है, गड़ढा भी दिख सकता है। इसलिए सही पगडंडी पकड़ने के लिए साथ में जानकार भाई का रहना आवश्यक हो जाता है अन्यथा आदमी भटक सकता है। वे परिवार वाले भी भटक गये, मार्ग सूझा नहीं, तब घर के प्रमुख सदस्य ने कहा- तुम यहीं रूको, मुझे खोज करने दो। वह प्रमुख व्यक्ति एक तरफ बढ़ा इधर-उधर कुछ नहीं दिखा। कुछ कंटीली झाड़ियाँ हटाई और रास्ता बनाकर टेकरी के पास पहुँचा, कपड़े समेटे और टेकरी पर चढ़-कर, चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, किन्तु मार्ग का कुछ अता-पता नहीं मिला। उस टेकरी पर एक खजूर का पेड़ था। उसने कपड़े समेटे यानी लंगोट लगाई और हिम्मत करके पेड़ पर चढ़ गया। ऊपर चढ़ कर देखा तो कुछ दूरी पर एक पगडंडी से कई राहगीर गुजरते दिखाई दिये। उसने विचार किया कि उधर से मार्ग मिल सकता है। वह वृक्ष के नीचे उतरा, परिवार वालों के पास पहुँचा और कहने लगा- मैंने मार्ग देख लिया है हाथ का इशारा करते हुए बोला उधर चलो, पगडंडी पकड़ लेंगे। अब परिवार वाले यदि कहे - ऊँह ऐसे कैसे चलें ? आप पहले टेकरी पर चढ़ें, फिर पेड़ पर चढ़ें, इसलिए पहले हम भी टेकरी पर चढ़ेंगे फिर पेड़ पर चढ़ेंगे मार्ग देखेंगे, उसके बाद चलेंगे तो क्या परिवार के सदस्यों का ऐसा करना उचित है ? परिवार के सदस्यों का कर्तव्य है कि वे प्रमुख की बात को स्वीकार कर लें। स्वीकार कर लेंगे तो पार पहुँच सकेंगे, पर यदि परिवार के सदस्य

कहेंगे कि आपने जैसा किया, वैसे ही हम भी करेंगे तो यह उनकी भयंकर भूल होगी। इसी प्रकार जो साधक कहते हैं कि जैसा भगवान महावीर ने किया वैसे ही हम करेंगे तो यह उनकी अतिसोच होगी, जो उन्हें भटकाने वाली बन सकती है।

ऐसे साधक भगवान के ऊपरी व्यवहार को देखने वाले होते हैं। भगवान के आंतरिक व्यवहार की तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। भगवान ने वस्त्र उतारे या नहीं उतारे, मुँहपत्ति बांधी या नहीं बांधी, यह महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु उन्होंने अपने मन के वस्त्र उतार फेंके। उनके मन में आंटे नहीं थे। क्या आज हमने वस्तुतः मन के आंटे निकाल दिये हैं ? मन के वस्त्र उतार दिए हैं ? यदि नहीं उतारे हैं तो भले ऊपर के वस्त्र फेंक दें, उससे क्या फर्क पड़ने वाला है ? बहुत से आदिवासी वस्त्र नहीं पहनते। वस्त्र पहनना या नहीं पहनना, यह महत्व की बात नहीं है। महत्व इस बात का है कि हमने भगवान के द्वारा प्ररूपित अहिंसा आदि धर्म से कितना मेल बैठाया है। यदि हमारे आंतरिक व्यवहार में कुछ भी फर्क नहीं आया है तो वस्त्र नहीं रखने से कोई भी प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है।

कुछ साधकों का स्वभाव उस व्यक्ति की तरह होता है जिसे सौंठ की एक गाँठ मिल जाये और वह समझे कि वह बहुत बड़ा दुकानदार हो गया है। वैसे ही वे एक बात को पकड़ लेंगे और दूसरे की काट करेंगे, उनकी पकड़ एकांगी होगी। थोड़ी पकड़ी, थोड़ी छोड़ी।

नन्दीसूत्र में तीन प्रकार की परिषद का कथन है- 1. जाणिया 2. अजाणिया 3. दुर्विदग्ध। जाणिया परिषद वह है जो गुरु चरणों में तत्व ज्ञान प्राप्त करता है। अजाणिया वह है जिसने अभी ज्ञान प्राप्त ही नहीं किया है, लेकिन ज्ञान प्राप्त करने लिए योग्य पात्र है। दुर्विदग्ध वह है जो गुरु के निकट नहीं आता, किन्तु दूर-दूर रहता है और जो गुरु के निकट से ज्ञान प्राप्त कर निकलते हैं, उनसे पूछता है- आज व्याख्यान में क्या चला? आज क्या प्रश्नोत्तर हुए? दूसरे ने जो पकड़ी उसमें से भी वह आधी पकड़ता है आधी छोड़ता है। ऐसी वृत्ति वाले को पंडितमानी कहा जा

सकता है। वे कहीं से बात को पकड़ते हैं और स्वयं को बहुत ज्ञानी मानने लगते हैं। ऐसे साधक भी भगवान महावीर के मार्ग से अलग-अलग चलते हैं। कुछ साधक भगवान महावीर के मार्ग से आगे निकल गये, पर मार्ग उन्हें ज्ञात नहीं। कुछ साथ-साथ भले चले पर वे यथार्थ में महावीर को जान नहीं पाये। कुछ साधक ऐसे होते हैं जो भगवान के विचारों का अनुगमन करते हैं। वे उनकी देखा देखी नहीं करते बल्कि जैसा उन्होंने कहा वैसा करने का लक्ष्य रखते हैं। ऐसे साधक ही यथार्थ रूप में भगवान को समझ पाये हैं। ऐसा कहा जा सकता है।

बंधुओं! आज जो साधु बनते हैं, उनके सामने आदर्श क्या है ? किसको सम्मुख रखकर वे साधु बनते हैं? यदि भगवान की वाणी को सम्मुख रखते हैं तो उसके अनुरूप चलने का प्रयास करना चाहिए। शास्त्र में जो कुछ निर्देश हैं उन्हें सामने रखकर चलें, उस प्रकार का वर्तन बने तो हम अनुगामी बनकर मंजिल प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं।

प्रभु महावीर की अनुगामिता को स्वीकार करने वाले मान-सम्मान की स्थितियों से नहीं जुड़ते। उनके लिए भगवान महावीर का आदर्श-उपदेश ही सार होता है। वही उनका जीवन होता है। ऐसे थे आचार्य पूज्यपाद शांत क्रांति के अब्रदूत स्व. श्री गणेशाचार्यजी म.सा.। उन्हें सादड़ी सम्मेलन के प्रसंग पर शांति रक्षक का पद दिया गया। उनके नेतृत्व में सभा का संचालन हो रहा था। अखिल भारतीय वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ का गठन हुआ। उसके नायक का चुनाव होना था। उस समय वहाँ उपस्थित आचार्य श्री हस्तीमल जी म. सा. ने कहा कि हमें एक ऐसे ज्योतिर्मान नक्षत्र की आवश्यकता है, जो पूरे संघ को आध्यात्मिकता की रोशनी से रोशन कर सके मैं समझता आचार्य श्री गणेशलालजी म.सा. संघ संचालन के लिए सर्वोत्कृष्ट हैं, एतदर्थ निवेदन करता हूँ कि उन्हें श्रमण संघ के आचार्य के रूप में स्वीकार किया जाए। जैसे ही उनका नाम लिया गया, पूरा प्रतिनिधि मंडल एक स्वर से सहमत हो गया। बल्कि यूँ कहूँ कि सभी का पहले से ही ऐसा मानस था। यह उन महापुरुषों का अनुभव था। कोई व्यक्ति कुछ कहे

और उसकी बात को आधे व्यक्ति स्वीकार करें और आधे मना कर दे तो यह अनुभूति परिपक्व नहीं कहीं जा सकती। किन्तु आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. की अनुभूति को पूरे प्रतिनिधि-मंडल ने स्वीकार कर लिया। किसी ने कोई विरोध प्रकट नहीं किया। जहाँ एक संप्रदाय के आचार्य का चयन होता है, वहाँ भी विरोध की स्थिति बन जाती है पर जहाँ अनेक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि हों, उनमें से किसी ने विरोध नहीं किया, यह बहुत बड़ी बात थी। यह बात अलग है कि पूज्यपाद गणेशाचार्य ने उसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा- मैं वृद्ध हूँ अभी ऑपरेशन भी करवाया हुआ है। ऐसी स्थिति में मुझसे इतने विशाल संघ का संचालन होना कठिन है। मैं तो अपने भार को भी हल्का करने उपस्थित हुआ हूँ। मेरी जानकारी के बिना मेरा नाम प्रस्तुत क्यों कर दिया गया। आप चाहे तो भले किसी युवा मुनि का चयन करिये मैं उनकी आज्ञा को भगवान महावीर की आज्ञा मान कर चलूँगा। ये इतिहास के वे पृष्ठ हैं जो हमारी चेतना को जागृत कर देते हैं कि हमारे पूर्व आचार्यों की भगवान महावीर की संस्कृति के प्रति कैसी समर्पणा रही है? वहाँ उन्होंने कहा था कि आप किसी युवा मुनि का चयन करिये। मैं उनकी आज्ञा को भगवान महावीर की आज्ञा मानकर चलूँगा।

उन महापुरुषों के जीवन प्रसंगों से प्रेरणा लेकर हम अपने हृदय के भीतर झाँककर देखें कि हमारे भीतर इतना समन्वय भाव एवं सौहार्द भाव है या नहीं ? हम एक दूसरे के लिए बलिदान करते हैं या नहीं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारे अहंकार के कारण समाज के टुकड़े हो रहे हो ? हमें विचार करना है कि हम महापुरुषों की जयंती मना रहे हैं या उनके नाम से हम अपने स्वार्थ की पूर्ति कर रहे हैं। ऊपर से हमने जयंती मना ली, भजन-भाव कर लिया, गुणोत्कीर्तन कर लिया, किन्तु अपने जीवन में क्या लिया ? आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. की प्रेरणा रही- सामायिक व स्वाध्याय। आज कई भाई-बहनों ने 11 सामायिक करने का प्रयत्न किया है। मेरा सामायिक से विरोध नहीं है, पर इसके साथ मेरा कहना है कि सामायिक जितनी आवश्यक है, उसके साथ हमारे

जीवन में परिवर्तन हो, यह भी आवश्यक है ताकि कषाय भाव कम हो। यहाँ आपने सामायिक की और घर जाते ही झगड़ा करने लगे तो वह सामायिक जीवन में उतरी कहाँ? सामायिक में स्वयं को साधने का प्रयत्न करें। वह प्रयत्न इतना सुदृढ़ हो कि कैसी भी स्थिति आए, हम अनुगामिता से नहीं हटें। सामायिक जरूर करें, 2, 5, 10 जितनी आपकी श्रद्धा है, दिन भर सामायिक करें, बहुत खुशी की बात है क्योंकि जितना समय सामायिक में रहेंगे, उतना समय तो कषाय से मुक्त रहेंगे, लेकिन अभी तो सामायिक में हूँ, फिर देख लूंगा, ऐसी गांठ मत बांध लेना। क्लेश बढ़ा लिया, गांठ बांध ली तो सामायिक का रस नहीं ले पाएंगे। उस सामायिक में हम कषाय पर विजय का प्रयत्न नहीं कर पाएंगे। यदि हमारे भीतर कषाय-जय के लिए भावना नहीं है, तो हम तीर्थंकर देवों के अनुगामी नहीं बन सकेंगे और जो उनकी अनुगामिता को भी स्वीकार नहीं कर सकता, वह सिद्ध कैसे बन पाएगा?

आज हम महापुरुषों की जयंती मना रहे हैं, किन्तु कई भाई कह देते हैं कि जयंती मनाना मिथ्यात्व का पोषण करना है, आरंभ से स्वयं को जोड़ना है। ऐसा एकांत रूप से कैसे कहा जा सकता है। हाँ यदि जयंती मनाने के लिए साधु, गृहस्थों को सूचना देता हो, मेला लगाता हो, सलाह देता हो कि ऐसा भोजन बनना चाहिए या स्वयं इस प्रकार के भावों के साथ जयंती मनाने में सहयोग करता हो तो वह निश्चित रूप से अपने व्रतों में दोष लगाता है। पर साधु इन प्रवृत्तियों में भाग नहीं लेता हो, फिर भी यदि कोई स्वधर्मी बंधु पहुँच जाये या मान लीजिये जयंती के निमित्त से पहुँच जाए, तो क्या उसका दोष साधु को लगेगा ? यदि ऐसे दोष लगे तब तो बड़ी विचित्र स्थिति बन जाएगी, क्योंकि साधु दीक्षा देता है या उसका चौमासा खुलता है तब भी दर्शन करने के लिए बहुत से व्यक्ति पहुँच जाते हैं, तो क्या दर्शन नहीं देगा ? क्या उससे उसका संयमी जीवन खण्डित होगा? यदि दर्शन देने से संयमी जीवन खण्डित होता है तो मैं कहूँगा कि दर्शन नहीं देना चाहिए, वंदन नहीं झेलना चाहिए। यदि उसको दर्शन दिया तो वह अनुमोदन का संबंध जुड़ेगा। यदि

यह मान लें की दर्शन देने में दोष है तो नहीं देना चाहिए। आप आये हमारा कमरा बंद है और कोई कहे तो भी हमें नहीं खोलना चाहिए, खोलेंगे तो दोष लगेगा, लेकिन हकीकत यह है कि दर्शन दे सकते हैं, पर साधु के मन में यह विचार नहीं आना चाहिए कि मेरे यहाँ कितने लोग आ रहे हैं! ओहो! मेरा कितना प्रभाव है, कितनी पब्लिक आती है। कितना धर्म-ध्यान होता है। कितने संघ विनती करने आ रहे हैं! यदि ऐसे विचार आते हैं तो वह साधना से नीचे उतर जाता है। साधुत्व में दोष लगता है। क्योंकि साधुत्व अध्यवसायों में है, कपड़े में नहीं। अध्यवसाय दृढ़ है तो कोई भी आये या जाये उसे लगाव नहीं होगा।

भगवान महावीर जब कहीं पधारते थे तो चाहे कोई भी हो चाहे मगध सम्राट श्रेणिक हो या राजा कोणिक, चाहे अन्य कोई सम्राट हो, सभी चारों प्रकार की सेना लेकर दर्शन करने आते थे। क्या भगवान महावीर ने एक भी जगह ऐसा नहीं कहा- कि दर्शन तुम्हें करना है या हाथी घोड़ों को करना है तुम्हें करना है तो तुम आ सकते थे, पर इतना आडम्बर इतनी भीड़ क्यों ला रहे हो? ऐसा कहीं कहा क्या भगवान महावीर ने ? भगवान महावीर के दर्शन करने एक बार श्रेणिक महाराज चतुरंगिणी सेना लेकर जा रहे थे, उस समय एक मेंढक घोड़े की टांग से कुचला गया था, पर भगवान ने दर्शन का निषेध नहीं किया। प्रदेशी राजा जिस समय नास्तिक था, उन्हें उद्बोधन देने हेतु चित्त श्रावक ने केशी श्रमण को आमंत्रित किया। चित्त श्रावक घोड़े दौड़ाने के बहाने राजा को ले आया। उन्होंने उपदेश श्रवण किया और उन्होंने कहा अब मैं प्रतिबोध को प्राप्त हुआ हूँ। आज मैंने वस्तुतः जीवन का सत्य स्वीकार किया है। अब तक मैं अपनी आमदनी के तीन भाग करता था, अब मैं चार भाग करूँगा और उस चौथे भाग से बहुत बड़ी दानशाला या भोजनशाला बनवाऊँगा। उस भोजनशाला में बहुत से व्यक्ति आजीवन वेतन पर, बहुत से वार्षिक वेतन और बहुत से मासिक और बहुत से दैनिक वेतन पर कार्य करेंगे। बहुत से श्रमण-माहणों को वहाँ असन, पान, खादिम, स्वादिम परिपूर्ण मात्रा में प्राप्त होगा। तब केशी श्रमण ने क्या कहा ? ऐसे

प्रसंग पर साधु को क्या बोलना ? चुप रहना। इतने आरंभ की बात! हजारों मन अनाज पकाये जाने पर कितने ही जीवों की हिंसा होगी। कितना आरंभ होगा ? वहाँ यदि मना नहीं करें तो अनुमोदन का दोष नहीं लगेगा ? उसमें हमारा विरोध नहीं है, तो दोष लगेगा या नहीं ? आज किसी साधु की बात हो तो कहेंगे, वे महाराज के सामने ऐसी बात कर रहे हैं, महाराज ने मना नहीं किया। ऐसे प्रसंगों पर साधु को मौन रहना चाहिये। सूत्र कृतांड सूत्र में कहा गया है -

**जे दाणं पसंसति, वहमिच्छति पाणिणं।**

**जे य णं पडिसेहंति, वितिच्छेयं क्खेत्ति ते।**

जो हाँ करो, कहता है वह अनुमोदन देता है वह बहुत से जीवों के आरंभ के साथ जुड़ता है और यदि निषेध करता है तो बहुत से लोगों कि वृत्ति का उच्छेद होता है। इसलिए केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा से नहीं कहा कि यह तू क्या कर रहा है। जब तक तू नास्तिक था, तब भी इतना आरंभ नहीं कर रहा था। अब साधु से प्रतिबोध पाकर श्रावक बना और इतने आरंभ से जुड़ेगा? पर ऐसा निषेध उन्होंने नहीं किया। क्योंकि इस प्रकार निषेध करने से वे बहुतों की वृत्तिच्छेद करने वाले, अन्तराय लगाने वाले बनते, इसलिए ऐसे प्रसंग पर साधु को मौन रहना चाहिए। जहाँ एकान्त पाप हो वहाँ वह रोक सकता है, किन्तु जहाँ आरंभ भी हो, और उपकार भी हो, तो वहाँ हाँ भी न कहें और 'ना' भी नहीं कहे। यदि 'हाँ' नहीं करता है तो वह दोष से नहीं जुड़ता है। यदि उसे दोष से जुड़ना माने तो भगवान के दर्शन करने जाने वाले का दोष भी भगवान को लगेगा, क्योंकि भगवान ने निषेध नहीं किया? हम बात का एकांकी अर्थ न लगायें न ही बात कि जंयती मनाने से आरंभ के दोषी होंगे या उन्हें मिथ्यात्व लगेगा। हम अपनी प्रज्ञा को पैनी करें, पाँच और पाँच दस जैसी बात हो तो स्वीकार करें नहीं तो जहाँ मन मानता हो वहाँ महापुरुषों से चर्चा विचर्चा करें, किन्तु ऐसी उथली प्ररूपणा में नहीं पड़ें।

आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. की मुख्य देन यह है कि उन्होंने इतिहास की रचना कर उसे प्रकाश में लाने का गुरुत्तर कार्य



किया इसलिए उन्हें इतिहास मार्तण्ड 'से संबोधित किया गया। महापुरुषों का जीवन विशिष्ट होता है। पूज्य आचार्य देव श्री नानालाल जी म.सा. एवं श्री हस्तीमल जी म.सा. भोपालगढ़ में मिले। दोनों को जोधपुर पधारना था। लम्बे समय से उनके मन में भी भाव थे कि मिलना है, कहाँ मिलें ? जब मिलन हुआ तब वह दिन था- पौष शुक्ला चतुर्दशी का। वह आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. का जन्म दिन भी था। उस दिन व्याख्यान के पश्चात् दोनों आचार्यों के बीच गहन चर्चा चली। पुरा समाज कैमरा लेकर खड़ा था, फोटो लेने के लिए नहीं बल्कि यह देखने कि दो आचार्य मिलकर क्या करते हैं ?

**ज्ञानी से ज्ञानी मिले, करें ज्ञान की बात ।**

**मूर्ख से मूर्ख मिले, कै मुक्का कै लात ॥**

एक दिन, दो दिन, विचारों का आलोडन हुआ और 'माघ बदी दूज' वह भी एक संयोग था कि उसी तिथि को शांत क्रांति के अब्रदूत गणेशाचार्य जी का स्वर्णवास हुआ था एवं आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. को आचार्य पद दिया गया था। उस दिन दोनों की तरफ से संयुक्त घोषणा हुई। दोनों आचार्यों ने मिलकर एक भूमिका निर्मित की। वैसे तो निर्माण की आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि सादड़ी सम्मेलन में सभी महापुरुषों ने एक धरातल तैयार कर लिया था? फिर भी मूल महाव्रतों की सुरक्षापूर्वक दोनों तरफ की समाचारी का मिलान करके प्रेम संबंध की घोषणा हुई। एक पाट पर व्याख्यान होगा। पहले व्याख्यान अलग-अलग पाटे पर होता था, किन्तु प्रेम संबंध के पश्चात एक पाटे पर होना तय हुआ, एक व्याख्यान होगा, अलग-अलग नहीं। एक चातुर्मास होगा, अलग-अलग नहीं। इसी धरातल पर एक संवत्सरी होगी। इस प्रकार के निर्णय लेकर एक भूमिका निर्मित की गई इसकी जानकारी कई मूर्धन्य महापुरुषों को भी भेजी गई कि इस उद्देश्य से कि यदि कोई चाहे तो इस धरातल पर समन्वय बढ़ाया जा सकता है। यह निर्णय भी हुआ कि गुरु-आमना कोई किसी की नहीं बदलायेगा। एक दूसरे के वैरागी-वैरागन, जो जिस सम्प्रदाय का है, वह उसी में दीक्षा लेगा।

इस प्रकार मौलिक बातें, चिंतन के उपरान्त मूर्धन्य मुनियों को भेजी गई। कइयों के सकारात्मक उत्तर भी आये। पंजाब के श्री सुदर्शनलाल जी म.सा. का उत्तर आया कि हमारा आपसे संबंध है और उस आधार पर आप कोई संबंध जोड़ते हैं तो हमें रूकावट नहीं है। उस समय कुछ माहौल बना, कइयों की तैयारी हो पाई, कइयों की नहीं हो पाई, पर आचार्य देव का विचार था कि हमारे जितने कदम बढ़ें, वे निर्णायक कदम होने चाहिए। जो कदम बढ़े वो वापस नहीं होने चाहिए। भले एक कदम आगे बढ़े पर पीछे नहीं हटे। इस प्रकार का वातावरण बनें, तो जागरण हो सकता है। ऐसे महापुरुषों का सान्निध्य समाज को लम्बे समय तक आवश्यक था, पर आयु सीमित होती है और वह अपने समय पर पूर्ण होती है। यदि ऐसा नहीं होता तो हम आज तीर्थंकर देवों का दर्शन करते होते। आयु-बल के सामने हमारा वश नहीं चलता।

सुना है आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. ने 10 वर्ष की वय में दीक्षा ली और 20 वर्ष की वय में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। आज उन महापुरुषों का स्मरण कर यदि हम त्याग पूर्वक समय बितायें तो हम अपनी आत्मा का पोषण कर पाएंगे। हम जो करेंगे वह हमारे लिए है। जितना करेंगे, उतना भरेंगे, जितना देंगे उतना पुण्य होगा।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि दीक्षा महत्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति लिए स्वीकार की जाती है। कुछेक साधक साधना से विचलित हो जाते हैं, जिससे लोगों के मन में कुछ धारणाएं बन जाती हैं, या बना दी जाती हैं। मैं चाहता हूँ कि दीक्षा के स्वस्थ, उत्कृष्ट रूप को विकृत न किया जाए, ताकि उसकी उपादेयता पर किसी को संशय पैदा न हो। दीक्षा जीवन का परिवर्तन है, परिष्करण है। अब तक जिन मोह, माया, कषायों में हम जी रहे थे उनसे ऊपर उठना दीक्षा का सही उद्देश्य है। उसी के सम्यक् रूप की प्रतिष्ठा करें और दीक्षा को उसी उद्देश्य की प्राप्ति का साधन बनाएं।



## बनें वीर से हम प्रशंसित

शांति जिन एक मुझ विनति....।

**आ**चारांग सूत्र भगवान महावीर की प्रथम देशना है, उसमें एक सूत्र आया है - 'एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए' इस सूत्र का एक-एक शब्द, एक-एक पद अत्यंत महत्वपूर्ण है। वैसे तो तीर्थंकर देवों द्वारा उद्भाषित प्रत्येक शब्द अनन्त-अनन्त गम और पर्यायों को लिए हुए हैं, पर जिस समय जिसका कथन करना होता है, उस समय उसके विषय में कहा जाता है। 'एस वीरे पसंसिए'- 'एस' अर्थात् ऐसा यह, 'वीरे' यानी वीर, पसंसिए अर्थात् प्रशंसित है अथवा प्रशस्त है। यह वीर प्रशंसित है। यहाँ 'यह' शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है। 'वह' वीर क्यों नहीं कहा गया ? यह वीर क्यों कहा गया ? यह और वह में बहुत अंतर हो जाता है। यह किसके लिए और वह किसके लिए प्रयुक्त होता है ? जो निकट है उसके लिए 'यह' का प्रयोग किया जाता है और जो निकट नहीं है उसके लिए प्रयुक्त होता है - 'वह' आपके सामने खड़ा है तो उसके लिए आप कहेंगे - यह व्यक्ति। उसे वह व्यक्ति नहीं कहेंगे।

भगवान कहते हैं- यह वीर प्रशस्त है। कौन-सा वीर, कैसा वीर ? वीर एक प्रकार का नहीं होता। वीर अनेक प्रकार के हो सकते हैं। आपने सुना होगा- दानवीर, युद्धवीर आदि। ये वीर के अलग-अलग विशेषण हुए। रणवीर भी हो सकता है, पर यह विचार करें कि भगवान किस वीर को प्रशंसित कहते हैं। आज के युग में ऐसे-ऐसे व्यक्ति भी वीर कहलाते हैं जो कहते हैं -

**मुक्की से तो पापड़ तोड़ूँ, कर से तोड़ूँ सूत।**

**पेड़ों पर से कूद पड़ूँ, मेरा नाम राजपूत।।**

इस विषय में यह दोहा भी संगत लगता है -

**मक्खरी के में पंख उखाड़ूँ तोड़ूँ कच्चा सूत।**

**लात मारकर पापड़ तोड़ूँ, हूँ जननी का पूत।।**

वह मुक्के से पापड़ तोड़ सकता है, आपको तो मुक्का भी नहीं लगाना पड़े, हाथ लगाते ही चूर कर रख दो। जो मुक्के से पापड़ तोड़ता है, उसे भी वीर की उपमा लग गई।

वीर अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ देने वाला दानवीर हो गया, युद्ध में शौर्य दिखाने वाला रणवीर हो गया। आप जानते हैं कि वासुदेव अपने आप में रणवीर होते हैं। जितने युद्ध वासुदेव को करने होते हैं उतने चक्रवर्ती को भी नहीं करने पड़ते हैं, यद्यपि चक्रवर्ती में वासुदेव से भी अधिक बल होता है, तथापि युद्ध वासुदेव को ज्यादा करने पड़ते हैं। भगवान ने इन वीरों की प्रशंसा नहीं की है। भगवान अपने समवसरण में रहने वालों से कह रहे हैं - जो धर्मवीर हैं, वे प्रशंसित हैं। व्यक्ति धर्मवीर कब बनता है ? जब वह मोह को जीत लेता है। मोह को जीतने वाले संत होते हैं, इसलिए धर्मवीर के रूप में साधुओं को स्वीकार किया गया है। श्रावक भी इस श्रेणी में आ सकते हैं, किन्तु वे पूर्णतया धर्मवीर नहीं हो सकते।

आनन्द आदि श्रावकों ने भगवान् से निवेदन किया- भगवन्! आपने जो तत्व प्रतिपादित किया है वह- **तहमेव सच्चं है**, जैसा आपने कहा है वह पूर्णतः वैसा ही है, सत्य रूप है। आपकी वाणी सुनकर बहुत से राजा, सेनापति, सार्थवाह, गाथापति आदि घर छोड़कर अणगार धर्म को स्वीकार करते हैं किन्तु मुझ में इतना सामर्थ्य नहीं है, इसलिए मैं आपके द्वारा निरूपित श्रमण धर्म को तो स्वीकार नहीं कर पा रहा हूँ। किन्तु मैं आपके पास **पंचाणुवयाइं सत्तसिक्खावयाइं** अर्थात् आगार धर्म के रूप में प्रतिपादित जो पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत है, उन्हें स्वीकार करना चाहता हूँ। अब आप देखिये श्रावक व्रत स्वीकार करते

हुए अपने असामर्थ्य को व्यक्त करता है कि मैं पूर्णतया अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन नहीं कर सकता। वह साधु जीवन स्वीकार करने का सामर्थ्य का अनुभव नहीं कर पा रहा है, तो क्या ऐसे व्यक्ति को वीर कह सकेंगे ? वीर वह होता है जिसे यदि असंभव से असंभव कार्य करने को कहा जाए तो भी वह पीछे नहीं हटे। असंभव को करने के लिए जो भी कोई तत्पर होता है वह वीर है। इसलिए प्रभु ने मुख्यतया साधु को धर्मवीर स्वीकार किया है पर साथ में एक विशेषण और लगा दिया। कौन सा ? **जे बद्धे पडिमोयए** जो बद्ध आत्मा का प्रतिमोचक होता है अर्थात् बंधी हुई आत्मा को स्वतन्त्र करने वाला होता है, वही वीर है अर्थात् जो अपने बंधन को छिन्न-भिन्न कर आत्मा को स्वतंत्र करने वाला होता है। इस कथन से कई बातें ध्वनित होती हैं। जैन दर्शन में चार निक्षेप कहे गए हैं- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। नाम निक्षेप- किसी का नाम वीर रख दिया। इतने मात्र से यह नहीं समझा जा सकता कि वह वीर है। वह सिर्फ नाम से वीर है। नाम गुणों से युक्त हो ही, ऐसा एकांत रूप से नहीं कहा जा सकता। दूसरा स्थापना निक्षेप-यानी किसी चीज में वीर की मान्यता कर देना। किसी साधु की आकृति बना दी गई या दूसरे रूप में कह दूँ-साधु का फोटो रख दिया गया। हो सकता है पाली में न हो। बाकी गाँव-गाँव में जाकर देख लीजिए? घर-घर में साधुओं के फोटो मिल सकते हैं। यह यथार्थ बात है? इसलिये मैं कह रहा हूँ। बात फोटो तक ही सीमित नहीं है, अगरबत्ती धोक लगाई जाने तक बात पहुँच गई है। उस फोटो को वंदन कर रहे हो तो क्या वह साधु है? नहीं। इसलिए भगवान ने कहा है- **‘एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए’**।

क्या फोटो का साधु अपने आपका प्रतिमोचन कर सकता है? वह तो अपनी बंधी आत्मा तक को मुक्त नहीं कर सकता। तस्वीर में मढ़ दिया गया है तो उसमें इतनी भी ताकत नहीं कि काँच से बाहर आ जाय। उसमें शक्ति नहीं कि काँच के पीछे के गत्ते को हटाकर निकल सके। ऐसे फोटो के साधु को भगवान ने वीर नहीं कहा है। तीसरा द्रव्य

निक्षेप से वीर जो लौकिक युद्धों में विजय प्राप्त करता है अथवा जो द्रव्य से साधु है वह द्रव्य निक्षेप से वीर है। उसे भी भगवान ने प्रशंसित या प्रशस्त नहीं कहा है। एक तो कपड़ा पहना जाता है और जब मन में आये तब उतार दिया जाता है, जैसे अभी आपने सामायिक ली है, सामायिक की पोशाक पहनी है और व्याख्यान दस मिनिट अधिक चल जाए तो धैर्य नहीं रह पाता। मन हो जाता है कि व्याख्यान पूरा हो उससे पहले कपड़े पहनकर तैयार हो जाऊँ। वैसे ही जो केवल पोशाक के साधु हैं, भगवान ने उन्हें भी प्रशस्त या प्रशंसित नहीं कहा है।

भाव निक्षेप से वीर कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले को कहा गया है, कर्म शत्रुओं पर विजय अत्रती प्राप्त नहीं कर सकता इसलिए वीर वह होता है जो व्रत को धारण करे। व्रत की धारणा भी दो प्रकार से होती है। जैसे बहुतों को व्रत लेते देखा तो किसी ने ले लिया, लेकिन पचक्ख्राण का स्वरूप वह जानता नहीं। भगवान कहते हैं- 'पढमं णाणं तओ दया' अर्थात् पहले पचक्ख्राण के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। यदि ज्ञान नहीं है तो पालोगे कैसे ? आराधना कैसे होगी ? क्योंकि कहा गया है-

**जो जीवे वि ण याणेइ, अजीवे वि ण याणेइ ।**

**जीवाजीवे अयाणंतो, कंहं सो णाहिइ संजमं ॥**

जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता वह यदि साधु बन जाये तो क्या वह अपनी आत्मा को मुक्त करा सकता है ? नहीं...। पर इस पर चिंतन करने की आवश्यकता है। धोला-धोला (सफेद) देखकर सब दूध मान लिया जाय, चाहे वह बकरी का हो या गाय का या भैंस का हो तो क्या अन्तर नहीं है ? दूध सफेद हो सकता है पर किसमें चिकनाई कितनी है ? एक दूध आठ रूपये लीटर भी मिलता है और एक के लिये चौदह-पंद्रह रूपये प्रति लीटर भी देना पड़ता है, तो दोनों धोले ही हैं किन्तु जितने धोले-धोले देखे वे सब समान नहीं हैं। इसी प्रकार सभी पोशाकधारी साधुओं को 'प्रशंसा योग्य' मत मान लेना। बात गहरी है।

भगवान ने कहा है -साधु वेशधारी भी होते हैं, पर सूत्र में यह

विशेषण लगा है जे 'बद्धे पडिमोहयए' साधु जीवन का वेश तो धारण कर लिया, लेकिन भाव में संयम नहीं तो ऐसा साधु बंधी हुई आत्मा को मुक्त नहीं करा पायेगा। जो बंधी हुई आत्मा को मुक्त करता है, वही साधक प्रशस्त है, प्रशंसित है। उसकी साधना शुभ है, शुद्ध है, ऊपर उठाने वाली है, अन्यथा साधना का ऊपर से ही दिखावा किया जा रहा है। ऊपर से ग्रहण करने का मतलब कि नियम ले लिया कि किसी प्राणी की हिंसा नहीं करूँगा। यथा **जे सुहुंम वा, वायरं वा, तसं वा, थावरं वा.....**। अर्थात् जो जीव सूक्ष्म, बादर त्रस या स्थावर हों, स्वयं इन प्राणियों का अतिपात नहीं करे, दूसरों से न करवाये, करने वालों का अनुमोदन भी न करें। क्या इतने में ही अहिंसा महाव्रत की पराकाष्ठा हो गई ? क्या इसी में अहिंसा फलीभूत हो गई ? ये तो हो गया कि किसी की हिंसा नहीं करूँगा, नहीं करवाऊँगा, न करने वाले का अनुमोदन करूँगा, पर यदि हिंसा नहीं करना ही अहिंसा है तो फिर तो अहिंसा का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रहा ? अहिंसा क्या है ? यदि दूसरे प्राणी की हिंसा नहीं करना यही अहिंसा है, तो जब दूसरे प्राणी नहीं होंगे तो आपकी अहिंसा का क्या होगा क्योंकि दूसरे हो तभी अहिंसा हो सकती है। तब तो वह अहिंसा पर सापेक्ष है। यदि दूसरों की रक्षा करना ही अहिंसा है तो जब दूसरा कोई नहीं हो, तो आप किसकी रक्षा कर पाएँगे ? और गहराई में जायें तो क्या कोई किसी आत्मा की रक्षा करता है ? तब वहाँ अहिंसा रहेगी या लुप्त हो जाएगी ? कपूर की तरह उड़ जावेगी ? जैसे बिजली गुल हो जाती है उसी प्रकार तब अहिंसा भी गुल तो नहीं हो जाएगी ? इस स्थिति को गहराई से समझें।

आज तक हमने हिंसा को छोड़ना अहिंसा माना है ? किन्तु यह अहिंसा का केवल ऊपरी रूप है, बाहरी रूप है। भरत और बाहुबली दोनों भाई-भाई थे। वैसे कहा जाता है कि चक्रवर्ती के सामने कोई बली नहीं होता, किन्तु बाहुबली में भरत से ज्यादा बल था। फिर भरत चक्रवर्ती क्यों बना ? बाहुबली क्यों नहीं बना ? चक्रवर्ती नाम कर्म की कोई प्रकृति है क्या ? है तो बता दो ? जिसकी जैसी पुण्यवानी का बंधन होता

है, कर्मों का जैसा योग होता है, वैसा ही फल प्राप्त होता है। हम ऊपर से देखते हैं किन्तु हमें गहरे में जाना होगा। भरत चक्रवर्ती बने, यह इस भव की साधना नहीं थी। बाहुबली का बल इस भव की साधना का फल नहीं था। पूर्व भव में उन्होंने पांच सौ-पांच सौ मुनियों की सेवा की थी। भरत ने बाहरी सेवा की थी और बाहुबली ने अंतरंग सेवा की थी इसलिए भरत ने बाहरी ऋद्धि प्राप्त की थी और आंतरिक सेवा करने वाले बाहुबली को आंतरिक बल मिला। उन्होंने भुजा फैलाई, भरत उसे पकड़कर झूल गये, पर हिला नहीं सके, मामूली बात थी क्या ? चक्रवर्ती का बल भी कम नहीं होता, पर वे बाहुबली की भुजा झुका नहीं पाये। दोनों के बीच ऐसे कई युद्ध हुए। जब बाहुबली ने मुष्टि प्रहार के लिए हाथ ऊपर उठाया, तो उसी क्षण उनका विचार बदल गया। उठे हाथ से सिर का लोच किया और साधु बन गये। मैं सारी कथा नहीं सुना रहा हूँ, किन्तु मैं यह दर्शाना चाहता हूँ कि एक बाहर से सेवा करता है, एक अंतरंग भाव से, दोनों की सेवा में बहुत अंतर होता है। वैसे ही आजकल हम व्रतों को ऊपर से मान लेते हैं। यदि हिंसा नहीं करना ही अहिंसा है तब तो अहिंसा नकारात्मक हो गई। अहिंसा का सकारात्मक पहलू क्या है ? सकारात्मक पहलू भी तो होना चाहिए? यदि उसे हम मान लें कि प्राणियों की रक्षा करना अहिंसा है, तो वह भी पर-सापेक्ष हो गई। स्वसापेक्ष क्या है ? आज हम अहिंसा, सत्य आदि का उच्चारण कर लेते हैं किन्तु पूछ लें सत्य क्या है, अहिंसा क्या है तो बगलें झांकने लगेंगे। आज स्वर उच्चरित जरूर होते हैं पर उनके भाव क्या होते हैं, यह पता नहीं होता। जब पता नहीं होता तो आचरण कैसे करेंगे? स्वीकार कैसे किया जायेगा? आप सोच रहे होंगे यह कैसी पृच्छा हो रही है? ये कैसी उलझन है ? सारा पासा पलट गया। किन्तु होता यह है कि हम जितनी बात धारकर, मानकर चलते हैं, उसे उतनी ही मान लेते हैं। ऐसी स्थिति में जब उस मान्यता से कोई भिन्न दूसरी बात आती है तो लगता है कि यह क्या है ? अहिंसा को पर-सापेक्ष या नकारात्मक ही नहीं जाने। अहिंसा का स्वपक्ष-सकारात्मक रूप भी देखें। उस सकारात्मक रूप से चलेंगे तो कुछ दूसरा ही रूप उद्घाटित होगा। भगवान ने कहा है -



**सव्व-भूयप्प-भूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।  
पिहियासव्वस्य दंतस्स, पाव कम्मं ण बंधइ।**

सभी भूतों को जो एक समान देखता है, आश्रवद्वार को ढँक देता है एवं जो दांत-इन्द्रिय निग्रह करने वाला होता है, वह पाप कर्म का बंध नहीं करता ।

हम कहते हैं साधु भी अहिंसा का पालन करता है तो, फिर छठे गुणस्थान में क्यों कर्म बंध हो रहा है ? छठे गुणस्थान और बारहवें व तेरहवें गुणस्थान सब में अहिंसा रही हुई है, फिर बारहवें व तेरहवें गुणस्थान में वैसा बंध क्यों नहीं होता ? अहिंसा का स्वरूप वीतरागता है, किन्तु हमारी दृष्टि में वैषम्य है। उसके कारण हम पूर्ण अहिंसक बन नहीं पाते हैं। हम वचन से भले कह दें कि हम सब जीवों को एक समान मान रहे हैं। पर सोचो, क्या हृदय से सबको एक दृष्टि से देख रहे हैं ? **सव्व-भूयप्प-भूयस्स** की भावना है क्या ? यहाँ किसी की रक्षा की बात नहीं कही गई है। किन्तु स्विच ऑन करते हैं तो प्रकाश हो जाता है। वैसे ही अहिंसा में प्रवेश करें तो हमारा दायरा इतना विस्तृत हो जाये कि कोई पराया नहीं लगेगा।

**वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना भी यही है, पूरी वसुधा ही कुटुम्ब है। कोई दूसरा नहीं है, कोई पराया नहीं है। सब के साथ मेरा अपनत्व है। इस प्रकार का प्रकाश फैलना चाहिये। जब आप गुब्बारे में हवा भरते हैं और यदि ज्यादा भर दें तो वह फूट जाता है- बंधन टूट जाता है, हवा फैल जाती है। वैसे ही जब तक हमारी दृष्टि बैलून में बंधी है, हम रागी हैं, उसके दायरे में हैं पर जैसे ही उस दायरे से हटेंगे, वैसे ही हम वीतराग, परिपूर्ण वात्सल्य वाले एवं विश्वप्रेम वाले बन जाएंगे, जहाँ कोई पराया नहीं होगा यह है वात्सल्य का विस्तृत रूप।

सम्यक्त्व के आठ आचार बताए गए हैं। उनमें एक है- '**वात्सल्य भाव**'। किस पर वात्सल्य रखना? उसमें बताया गया है- स्वधर्मी पर वात्सल्य भाव रखना, तो परधर्मी पर क्या रखना ? दुनिया में जितने

जीव हैं यदि निश्चय में जायें तो वे स्वधर्मी हैं या परधर्मी स्वधर्मी में किसे लेना ? एक बार तो कह देंगे कि स्वधर्मी में जैन धर्मावलंबियों को लेना, फिर थोड़ा और विचार करेंगे तो कहेंगे दिगम्बर परधर्मी हैं, श्वेताम्बर स्वधर्मी हैं, उसे लेना। वैचारिक कदम और आगे बढ़ेंगे तो कहेंगे-स्थानकवासी को लेना वही स्वधर्मी हैं और आगे बढ़ेंगे तो उसमें भी अंतर आ जाएगा। किसे कहें स्वधर्मी, विचार कीजिए, क्योंकि परिभाषा तो हर बार बदल रही है। बड़े रूप में कहें तो जो हमारे धर्म की आराधना करता है, वह स्वधर्मी है किन्तु यदि और गहराई में जाएँ तो स्वधर्मी की परिभाषा हुई जो स्व अर्थात् अपने धर्म में रहने वाला है यानी आत्मधर्मी। जो निज को जान चुका है, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का हो, वह स्वधर्मी है, लेकिन जिसने निज को नहीं पहचाना है। वह स्वधर्मी है या नहीं है। स्वधर्मी यदि नहीं है तो फिर नहीं बोल सकोगे- **सिद्धा जैसो जीव है।**

सिर्फ एक पद को ही ले लीजिये। कह सकोगे क्या ? न कहने का आधार क्या है ? प्रत्येक आत्मा में सिद्धत्व है। सिद्धत्व है तो प्रत्येक आत्मा में निज का धर्म है, इस कारण प्रत्येक आत्मा के प्रति हमारा वात्सल्य भाव होना चाहिए और जहाँ यह स्थिति बन जाये तो फिर दूसरे प्राणी को मारने के लिए हाथ बढ़ेंगे क्या ? जब प्राणी मात्र को अपना मान लिया तो किसी को दण्ड दे नहीं सकते। दूसरों का दर्द सह नहीं सकते। वे दर्द हमारी अनुभूति में आ जाएंगे। ये है अहिंसा की पराकाष्ठा और उसमें जो प्रवेश करता है उसे कहा जाता है- 'वीर' वही प्रशंसित होता है, जिसमें अभी तक संपराय है, अपने-पराये की दीवार रही हुई है, उसे वीर नहीं कहा जा सकता, पर इन दीवारों के पीछे क्या रखा है, उसका ज्ञान हम नहीं कर पाते। इसलिए भगवान ने कहा - प्राणीमात्र के प्रति आपके हृदय में करूणा होनी चाहिए। करूणा में भेद नहीं होने चाहिए। एकात्म भाव प्रकट होना चाहिए। ऐसा होने पर पूर्ण अहिंसा का प्रादुर्भाव होगा। ऊपर से जो व्रत नियम लिया है, वह व्रत फिर भीतर से प्रकट होगा। वहाँ भेद-रेखा नहीं रह जायेगी। सबके प्रति उसके हृदय में करूणा होगी।

ऊपर से व्रत-धारण भी उसके सिंचन के लिए है। मैं कह गया हूँ- दो प्रकार से व्रत धारण होता है। एक तो वस्त्र की तरह पहना और उतार दिया जाता है, पर दूसरा व्रत वह है जो आत्मा के साथ एकमेक हो जाता है। एकमेक हो जाता, यही बात प्रमुख है। सिद्ध भगवान के चारित्र कितने हैं ? हम कहते हैं -

**नाणं च दंसणं चैव, चरिन्तं च तवो तहा।**

**वीरियं उवओगो य, एयंजीवस्स लक्खणं।**

यहाँ जीव के लक्षण बताये गये हैं। यहाँ यह भेद किया गया है क्या ? कि ये लक्षण संसारी आत्मा के हैं, सिद्धों को नहीं है? फिर भेद कैसे करेंगे? तेरहवें गुण-स्थान में कौनसा चारित्र होता है ? यथाख्यात! वह कैसे प्रकट हुआ, किस कारण से प्राप्त हुआ? वह आत्मा का गुण है या कर्मों का ? यह गुण आत्मा का है जो मोहकर्म से ढंका हुआ था, मोह दूर हुआ तब आत्मा का यह गुण प्रकट हुआ। अब जब वह आवरण दूर हो गया, जिसमें से वह प्रकट हो गया तब अब किससे ढंका जायेगा? ढँकने का साधन क्या है ? आप कहते हैं तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में तो वह चारित्र है, पर सिद्ध में नहीं है। क्या कारण है? क्या शरीर नहीं है ? किस कारण ? परन्तु यहाँ तो आत्मा की बात चल रही है। यथाख्यात चारित्र शरीर का गुण है या आत्मा का ? यदि आत्मा का है तो क्या पुनः किसी कर्म से ढंक गया। जो सिद्धों में नहीं हैं? क्या सिद्धों के कोई नया कर्म बंध हो गया ? बात गले उतर नहीं रही है। क्योंकि अभी तक यही मानते रहे हैं कि उनके चारित्र नहीं होता। नहीं है तो बताईये यथाख्यात चारित्र किससे ढंका ?

‘यथाख्यात’ का अर्थ क्या होता है? यथा अर्थात् जैसा, ख्यात अर्थात् कहा गया है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप जैसा कहा गया है, वह प्रकट हो गया। वह स्वरूप वापस चला नहीं गया, सिद्ध भगवान में से वह, आत्मा का गुण कर्म-क्षय से प्रकट हुआ है, फलस्वरूप वह आत्मा के भीतर है, किन्तु पहले मोह से ढंका था। मोह हटा कि शुद्ध स्वरूप प्रकट हो गया। अब ढँकने वाला कौन है ? जैसा आत्मा का स्वरूप कहा

गया है- वह उजागर हो गया, वही स्वरूप सिद्धों में मौजूद है। उसे हम यथारख्यात चारित्र कहें या क्षायिक चारित्र यद्यपि चर्या रूप चारित्र वहाँ नहीं है, पर स्थिरता रूप चारित्र तो है ही, इसलिए सिद्ध भगवान में सामायिक को भी स्वीकार किया गया है।

सामायिक किसे कहते हैं ? हम तो जानते हैं कि समभाव को कहते हैं। पर वह आया कैसे, उपाध्याय यशोविजय जी ने कहा है - 'सामायिकं स्थिरतारूपं यत् सिद्धेष्वपि इष्यते हमारे भीतर चंचलता होती है। जब-तक चंचलता रहेगी तब तक परिपूर्ण सामायिक होगी नहीं। पूर्णिया श्रावक सामायिक करता था, तो आँखें मींचकर नहीं करता था। आपकी सामायिक की कोई कीमत लगाए तो कितनी होगी ? अगर कोई कीमत देने वाला हो तो सामायिक देकर कमाई भी कर लें। विचार करें, हम सामायिक करते हैं पर आनंद क्यों नहीं आता ? सामायिक में आनंद आएगा, निश्चित आएगा अगर हम सामायिक के स्वरूप को जानकर सामायिक करें। सामायिक का स्वरूप है स्थिरता। हमारा मन तो स्थिर है ही नहीं। वचन और काया भी कहाँ स्थिर है! सिद्ध भगवन्तों में वह स्थिरता है। इसलिए उपाध्याय यशोविजय जी उनमें सामायिक के दर्शन करते हैं। स्थिरता नहीं होने के कारण ही हम अपनी आराधना को छिछला बना रहे हैं।

आज आप तपस्या करते हैं और तप की बोली लेते हैं कि मैं इतनी तपस्या करूँगा तो अभिनंदन कौन करेगा। इसके लिए बोली लगती है कि उपवास, बेला, तेला, अठाई आदि जो जितना अधिक तप का कहता है वह अभिनंदन करने का अधिकारी होता है। यहाँ बोली लगती है या नहीं मुझे नहीं मालूम। पर आज तो कुएँ में भांग पड़ने जैसी स्थिति हो गई है। थोड़ी सी बात मिली फिर तो अमरबेल की तरह फैल गई। कहीं किसी ने चालू की, हमें पता लगा और हमने बिना सोचे समझे बोली लगाना शुरू कर दिया। ये बोली लगाना कितना सार्थक है? प्रतिक्रमण की बोली लगाई जाती है। मान लीजिए आप बोली लगा रहे हैं कि मासख्रमण करूँगा। आपने माला पहना दी लेकिन आपकी आत्मशुद्धि

कितनी हुई? देखिये व्यवहार तो आपके सामने है कि आपने स्वागत के लिए बोली ली है, तो आप सत्कार करके खुश हो जायेंगे तथा वहाँ तक की जो तपस्या करेंगे, वह तो आपकी चली गई बोली में, माला पहनाने में। उससे ज्यादा तपस्या करें तो आपकी है। केवल मन को बहलाने के लिए आप ऊपर से तर्क देते हैं कि ऐसा करने से तपस्या ज्यादा होती है। यह कोरा भ्रम है, छलावा है, घास/खाकला तो बहुत हो जाएगा, पर उसमें अनाज के दाने कितने पड़ेंगे ? किसान खेती घास के लिए करता है या अनाज के लिए? तपस्या भी की पर आत्मा की शुद्धि नहीं हुई तो वह किस काम की? वह तो घास के रूप में रह जाएगी। ठीक है पुण्यवानी बंध जावेगी, जय-जयकार हो जायेगी, पर आत्मा की शुद्धि तो नहीं होगी जो तपस्या का उद्देश्य होता है। थोड़ा बारीकी से विचार करें। हम धार्मिक क्रियाएं, अनुष्ठान खूब करते हैं पर उनका सही स्वरूप जाना या नहीं ? फिर कहें कि हमने इतना धर्म कर लिया, पर शांति आती नहीं। शांति कहीं बाहर हो तो आये, वह तो भीतर है। उसे आप दबा रहे हैं। कभी थोड़ी-सी शांति प्रकट भी हो जाती तो आप उसे लोरी गाकर सुला देते हैं। वह जाग्रत होती है तो मन कहता है सोती रह और लोरी सुना देते हैं, वह लोरी है बहुमान की, जय-जयकार की, सत्कार और सम्मान की।

### शांति जिन एक मुझ विनती .....

बंधुओं! शांति के स्वरूप को कैसे जानें ? उसे प्रकट करना है तो वह कहीं से आयात नहीं की जा सकती। उसका आयात-निर्यात नहीं होता। वह भीतर ही है किन्तु हम उसे दबाकर रखते हैं, प्रकट नहीं होने देते। हम अहिंसा के भाव प्रकट करें, उस पर राग-द्वेषात्मक जो आवरण आये हुए हैं, उन्हें हटाकर अहिंसा को जागृत करें, तब कोई प्रशंसा करे या नहीं करे, कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, क्योंकि जब भगवान महावीर उसकी प्रशंसा करते हैं, फिर उसे और क्या चाहिए ? एक तरफ तो दुनिया के बहुत से लोग हैं और दूसरी तरफ सिर्फ भगवान है। एक छोटी-सी बात से आप समझ लीजिये। दुर्योधन भी चाहता था और अर्जुन

भी चाहता था कि उसे कृष्ण का सहयोग मिले। कृष्ण ने कहा- तुम दोनों आ गये हो तो मैं भेद नहीं कर सकता किन्तु एक तरफ मेरी पूरी सेना है और दूसरी तरफ मैं अकेला हूँ। मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा। दुर्योधन ने कहा- मुझे तो सेना चाहिए। निहत्था व्यक्ति युद्ध में क्या करेगा। श्री कृष्ण अर्जुन की तरफ रहे। वे अकेले थे पर विजय किसकी हुई ? इसलिए इस लोभ में मत आना कि दुनिया के बहुत से लोग प्रशंसा करें। दुनिया के लोगों ने झूठी प्रशंसा करके बहुतों को ठगा है। बहुतों को बहकाया है। आत्मभावों से विचलित किया है। अतः दुनिया के लोगों के द्वारा मिलने वाली प्रशंसा का मोह त्यागो। भगवान ने जिसे प्रशंसित कहा है, उसे स्वीकारो। भगवान ने कहा है -**जे बद्धे पडिमोयए** जो अपनी आत्मा को बहुमान में नहीं ले जाता, प्रशंसा में नहीं अटकाता उससे अलग रहकर आत्म-स्वरूप को उजाकर करने में जो लगा है, वह प्रशंसित है। ऐसी साधना जीवन में उतार ली, तो भगवान महावीर की ही नहीं, किन्तु अनंत सिद्धों की दृष्टि में भी हम प्रशंसित हैं, क्योंकि भगवान महावीर और अनंत सिद्धों की दृष्टि में कोई अंतर नहीं है। ऐसी स्थिति में महावीर की दृष्टि में हम प्रशंसित हो गये तो अनंतानंत सिद्धों की दृष्टि में भी प्रशंसित हो जायेंगे। ऐसा स्वरूप अपने भीतर प्रकट करें उस समय अन्य लोगों द्वारा प्रशंसा ही ऐसी चाह रह ही नहीं पायेगी।

बंधुओं ! हम भीतर के इन गुणों को जागृत करें। ये गुण बाहर नहीं है, हमारे भीतर ही है। उन्हें जागृत कर लिया तो साधु-जीवन सार्थक हो जावेगा। वीतराग वाणी का सुनना और जीवन में उतारना सार्थक हो जावेगा और तब हम उस वीरत्व को प्राप्त करने की दिशा में गतिमान हो सकेंगे जिसके लिये आचारांग सूत्र में कहा गया है- **एस वीरे पसंसिये जे बद्धे पडिमोयए।**



## संजोये सेवा के क्षण सुनहरे

### शांति जिन एक मुझ विनति....।

**स**म्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की त्रिपुटी को, इनकी युति को मोक्षमार्ग कहा गया है। ये तीनों जब मिलते हैं तब मोक्षमार्ग बनता है। जिससे पदार्थों को जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं। मति आदि के भेद से ज्ञान पाँच प्रकार का है। जो हमारी जानने की दृष्टि को शुद्ध करे, वह दर्शन है। उसके होने पर पदार्थ को सम्यक् रूप से जाना जाता है। चारित्र उसे कहते हैं जो कर्मों के चय को रिक्त करे। चारित्र में सेवा-तपादि का समावेश है, क्योंकि वे क्रिया रूप हैं। क्रिया रूप सम्यगनुष्ठान चारित्र के अंतर्गत है इसलिए यहाँ तप आदि का अलग से उल्लेख नहीं किया गया है।

साधु-जीवन में सेवा का अत्यन्त महत्व है। उसका अभाव हो जाये तो साधु-जीवन की साधना भलीभाँति सिद्ध नहीं हो सकती। यह बात अलग है कि जिनकल्पी के लिए यह विधान नहीं है। उनके लिए यह बताया गया है कि वे जिस नगर या गाँव में रहते हैं, उस नगर या गाँव वालों को यदि मालूम भी पड़ जाए कि जिनकल्पी यहाँ रह रहे हैं तो वे वहाँ से विहार कर जाते हैं। वे अपने शरीर का संस्कार सार - सम्भाल, भी नहीं करते।

आपने महासती सुभद्रा के संबंध में सुना होगा। एक मुनि भिक्षा के लिए आये और जब वे भिक्षा लेकर जा रहे थे, तब महासती सुभद्रा ने देखा कि उनकी आँख में ऐसे कण थे, जिनके कारण उनकी आँख से पानी आ रहा था। सुभद्रा ने अपनी जीभ से उनकी आँख को शुद्ध कर दिया, इस प्रयास से सुभद्रा की टीकी मुनिराज के लग गई। ऐसे

प्रतिमाधारियों के लिए बताया गया है कि वे जिस मकान में रह रहे हों और वहाँ यदि आग भी लग जाए तो भी भयभीत होकर वे मकान खाली नहीं करते। यदि कोई अन्य व्यक्ति उनको बचाने के लिए हाथ पकड़कर निकाले तो ऐसा भी नहीं कि वे उसे घसीटें कि मैं नहीं निकलूंगा, किन्तु वे ईर्या समितिपूर्वक बाहर हो जाते हैं। जिस बस्ती में रहे उस बस्ती के लोगों को यदि मालूम हो जावे कि ये प्रतिमाधारी है तो वे वहाँ से विहार कर जाते हैं। ऐसे मुनियों के लिए सेवा, अनिवार्य नहीं है, किन्तु जो स्थविर-कल्पी साधु हैं वह सेवा के अवसर पर यदि जी चुराता है, तो तीर्थकर ने उसके लिए प्रायश्चित का विधान प्रस्तुत किया है।

उत्तराध्ययन सूत्र के 29 वें अध्ययन में सेवा का यह फल बताया गया है कि सेवा करने वाला तीर्थकर नाम कर्म का बंध करता है। बाकी किसी प्रश्न के उत्तर में ऐसा नहीं बताया गया है। 73 प्रश्नों में से केवल एक प्रश्न के उत्तर में ऐसा कहा गया है कि वह इतनी पुण्यवानी का संचय कर सकता है कि तीर्थकर नाम का उपार्जन कर ले किन्तु उसमें आकांक्षा नहीं होनी चाहिए। यदि आकांक्षा जुड़ती है तो सेवा करने वाला, अपने त्याग का, तप का, चारित्र का, सेवा का सारा का सारा फल गौण कर लेता है, परिणामस्वरूप आकांक्षा तक ही उसका परिणाम सीमित रह जाता है।

स्थानांग सूत्र में बताया गया है कि चतुर्विध संघ की सेवा करता हुआ जीव महानिर्जरा करता है। महानिर्जरा करता हुआ वह महापर्यवसान को प्राप्त होता है। कितना महत्वपूर्ण सूत्र है। यहाँ यह नहीं कहा है कि साधु-साध्वी की सेवा करें तो निर्जरा होगी, श्रावक-श्राविका की सेवा से कोई मतलब नहीं, कोई अर्थ नहीं। यहाँ अलग-अलग प्रकार के विचार सामने आ सकते हैं कहने वाले यह भी कहते हैं कि साधु-श्रावक में तो बहुत अंतर है। साधु के तीन करण, तीन योग से त्याग है, श्रावक के अत्रत खुला है। उसकी सेवा करे तो अत्रत का पोषण होगा? इससे आप विचार में पड़ रहे होंगे, पर ध्यान रखिये। श्रावक एकांत रूप से अत्रती, असंयमी नहीं है। श्रावक को व्रत-धारी कहा गया है और उसका जीवन व्यवहार व्रत के पोषण की दृष्टि से चलता है।

मैंने एक बार कहा था -



### “धम्मठिया, धम्मेणं चेव विन्तं कप्पेमाणा”

वे धर्म में स्थित है। धर्म-स्थित श्रावक यदि खाना-पीना कर रहा है तो क्या वह धर्म में रहकर कर रहा है या धर्म छोड़कर कर रहा है ? धर्म में रहते हुए कर रहा है। जिस समय वह भोजन कर रहा है उस समय वह व्रतधारी है। व्रत धारण करके उसका सम्यक् पालन करता है तो वह चाहे घर में रहे या दुकान में बैठे किन्तु भावों से वह व्रत में है, इसलिए वह व्रतधारी है, असंयमी नहीं। आप कहेंगे मान ली हमने आपकी बात कि श्रावक की सेवा करनी चाहिए, किन्तु जो व्रतधारी नहीं है। क्या उनकी भी सेवा कर सकते हैं ?

भगवान महावीर ने सम्यक् दर्शन के लक्षण के रूप में या यों कहूँ भीतर की अवस्थाओं का निरूपण करते हुए, अनुकंपा को गुण रूप बतलाया है। यह गुण सम्यक् दृष्टि में उपलब्ध होता है। कल में जिस अहिंसा की परिभाषा कर गया था वह अहिंसा अनुकंपा के बिना टिक ही नहीं सकती। दूसरे शब्दों में कहें तो अहिंसक भाव बिना अनुकंपा के घटित हो नहीं सकता। दुःखी को देखकर भीतर प्रकम्पन नहीं हो, दुःखी को देखने के बाद भी उपेक्षा के भाव आये तो सम्यक् दर्शन का रहना भी कठिन है। सम्यक्त्व दर्शन के लक्षण को बताते हुए कहा गया है -**सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्था।**

ये व्यवहार सम्यक्त्व के लक्षण हैं, उनमें भी अनुकंपा महत्वपूर्ण है। यदि कोई श्रावक है या नहीं, पर मानव तो है और उसकी सेवा की आवश्यकता बन गई हो तो व्यक्ति को चाहिये कि वह सेवा से वंचित न रहे। आप कहेंगे वहाँ सेवा करने से कौन सा लाभ मिला ? आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान इन्हें अपध्यान कहा गया है और किसी के आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान को दूर करने का प्रसंग यदि बनता है जो हाय-हाय विलाप, रोना-धोना कर रहा है उसे सांत्वना देकर किसी ने आर्त्तध्यान को दूर करने का प्रयत्न किया तो वहाँ धर्म की स्थिति बनना संभव है वह लाभ है। दूसरे को धर्म हो या न हो, आर्त्तध्यान दूर करने वाले ने कर्तव्य पालन किया। उसे उससे तुष्टि होती है। यह उसके स्वयं के लिए महत्पूर्ण है। अनुकम्पा सेवा का दायरा यहीं पर समाप्त नहीं होता, मानव के अतिरिक्त जो मूक प्राणी है। पशु-पक्षी हैं, उन्हें भी सुख-दुःख का वेदन होता है। हालांकि वे

हमारी तरह बोल नहीं सकते, परंतु अपनी भाषा में तो वे बोलते हैं, उनकी बोली हम समझ नहीं पाते हैं, उन्हें तो समझने वाले ही समझ पाते हैं।

अरिष्टनेमि शादी करने जा रहे थे, हालांकि उन्होंने स्वीकृति नहीं दी थी। किन्तु उनके मौन को उनके परिजनों ने स्वीकृति मान लिया था। शानदार ढंग से बारात सजी थी, घोड़े हिनहिना रहे थे। हाथी चिंघाड़ रहे थे और बारात आगे बढ़ रही थी। किन्तु अरिष्टनेमि के कानों में कुछ और सुनाई पड़ रहा था। पशुओं का करूण क्रन्दन। पशु न जाने कौन सा संकेत दे रहे थे ? आशीर्वाद दे रहे थे या करूण पुकार कर रहे थे। उस पुकार को सुनकर अरिष्टनेमि जी सारथी से पूछने लगे-किस कारण से ये इकट्ठे किये गये हैं ?

### कस्य अट्ठा इमे पाणा

सारथी ने उत्तर दिया -

### तुज्झ विवाह कज्जम्मि

अरे ! एक विवाह से जहाँ सम्बंध जुड़े और अनेक जीवों का जीवन-विच्छेद हो जाय ? अनेक के प्राणों की होली हो जाये ? ऐसा कार्य कभी प्रशस्त नहीं हो सकता ऐसा उनका चिन्तन बना। जिस रूप में सह भावनाएं जगती हैं, एवं दुर्भाव बनते हैं, उसी रूप में वे चेहरे पर उभर आते हैं। जैसे ज्यादा शोक हो, ज्यादा हर्ष हो, ज्यादा करूणा हो तो उस समय स्वर नहीं फूटता, परंतु चेहरे पर उनकी झलक आ जाती है। सारथी रथ से नीचे उतरा और सारे बाड़े-पिंजरे खोल दिये। प्राणियों की आवाज आने लगी। प्राणियों की आवाज तो पहले भी आ रही थी, अब वे दौड़ रहे थे तब भी बोल रहे थे परन्तु दोनों समय के बोलने में अंतर था।

आप भी महसूस करते होंगे कि तीर्थंकर देवों की संस्कृति के अनुरूप चलना चाहिए। यदि दोनों समय की आवाज को सुनकर हमारे भीतर स्फुरण न हो तो हमारे सामने पशुओं की खाल उतारे तो भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

प्रतिदिन हजारों पशुओं का कत्ल किया जा रहा है। हम आ रहे थे, रास्ते में बताया गया कि यहाँ पशुओं से भरा ट्रक उलट गया था, लगभग तीस-चालीस पशु थे। मनुष्य तो फिर भी निकल जाये पर वे तो बँधे हुए थे, निकल नहीं सके। वहीं मर गये। दूसरे दिन आदमियों को

बुलाया गया तो उन्होंने खालें उतार कर लाशें फेंक दीं। शरीर के ढांचे पड़े थे। कितने ही लोग उन्हें देखकर निकल रहे थे, पर किनके मन में कितना कंपन हो रहा था यह तो उधर से गुजरने वाले ही बता सकते थे। किन्तु पशुओं पर अनुकंपा करना धर्म पुष्टि के लिए है। उससे अपने भीतर संतुष्टि का अनुभव होता है। साधु-श्रावक के प्रति ही नहीं किन्तु प्राणी मात्र के प्रति भी हमारे मन में अनुकंपा का भाव होना चाहिए। मेघकुमार का दृष्टांत इस दृष्टि से अनुकरणीय है

**मेघकुंवर, हाथी रा भव में।**

**अनुकंपा की समकित पाई।।**

मेघकुमार ने हाथी के भव में प्राण भूत जीव तत्व की अनुकंपा की थी, जिससे उन्होंने संसार परित-सीमित कर लिया था। यह सामान्य बात नहीं थी। आज हमारी विचारणा-भावना क्या है, यह तो भगवान ही जानें। हम कितनी अनुकंपा लेकर चलते हैं। पशु रक्षा की तो बात करते हैं, आवाज लगाते हैं कि कत्लखानें बन्द हो पर यह सुनते हुए माथा झुक जाएगा, शर्म की अनुभूति होगी, कि जैन परिवारों में भी कत्ल खाने जैसी स्थिति हो रही है। पशुओं की नहीं, पंचेन्द्रिय में भी अपने ही कलेजे के कोर की निर्मम हत्या। इससे बढ़कर क्रूरता का रूप और क्या हो सकता है ? जीव के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं, पर कोई दया नहीं आती। ऐसी स्थिति में मातृत्व भाव कहाँ पनपेगा ?

रूस में भारत के वैज्ञानिकों ने एक पत्र वाचन किया, जिसमें बताया गया था कि कत्लखानों से पशुओं की जो आह निकलती है वह 1058 मेगाटन वॉल्ट की गति से चलती है, वे जहाँ जाकर टकराती है। वहाँ उनके कारण भूकम्प आते हैं। बंधुओं! पशुओं की आह से करूण क्रन्दन से पृथ्वी तो हिलती है, पर मनुष्यों के कलेजे नहीं हिलते हैं। यदि हिलते होते तो अपने कलेजे के टुकड़ों की निर्मम हत्या नहीं की जाती। जिस समय भ्रूण हत्या के लिए तैयारी की जाती है, डॉक्टर की कैंची जैसे ही शिशु के निकट पहुँचती है, वह शिशु जैसे पशु तड़पता है, उसी प्रकार तड़पने लगता है और इधर-उधर भागकर बचने की कोशिश करता है। किन्तु कौन बचाये? दुनिया में कहा जाता है- जब बच्चा रोता है तो माँ की गोद में चला जाता है पर उस दुर्भाग्यी जीव के लिए माता की गोद भी

सूनी हो जाती है। माता ही कत्ल करने को तैयार हो जाए तो वह कहाँ मुँह छिपाए ? हम सुन लेते हैं, पर सुनने मात्र से परिवर्तन नहीं होगा। हम सोचे, कि कहीं ऐसे काम हम तो नहीं कर रहे हैं? कर रहे हैं तो अनुकंपा नहीं रहेगी। अनुकंपा के बिना अहिंसा नहीं टिकेगी। अहिंसा नहीं है तो कितना भी धर्म कर लें, किसी काम का नहीं। एक तरफ तो मुँहपत्ति बाँधे और दूसरी तरफ प्राणी को तड़पा-तड़पा कर मारने में पीछे नहीं रहे, यह कैसी द्विरूपता चल रही है ? यह अवस्था धर्म क्षेत्र में नहीं टिक सकेगी। एक तरफ कहते हैं - पंचेन्द्रिय का वध करने वाला नरक में जाता है और दूसरी तरफ स्वयं नरक बंध करने के कार्य करने में हिचकते भी नहीं हैं। केवल माता ही दोष की भागी नहीं है, आप भी कहीं न कहीं अंशों में दोष के भागी हैं।

बन्धुओं! बड़े-बड़े क्षेत्रों में हालात बड़े विचित्र हैं। कैसे-कैसे सेन्टर खुल रहे हैं, सुनेंगे तो शायद सुन नहीं सकेंगे। यदि हम धर्म के प्रति स्वयं को उन्मुख मानकर चलते हैं, तो हमें उनका हृदय से सार्वजनिक बहिष्कार करना चाहिये और कह देना चाहिए कि ऐसा काम हम हमारे घरों में नहीं होने देंगे, न ही किसी को करने के लिए बाध्य करेंगे। अपने-अपने घरों में हम स्वयं को पाबंद करें। धर्म करणी हम तब ही कर पाएंगे जब प्राणी मात्र के प्रति दया के भाव मन में संजोयेंगे। प्राणी दया आत्मा की सेवा है, स्वयं अपनी सेवा है, ऐसी सेवा की भावना से साधु जीवन की और श्रावक जीवन की शोभा बढ़ती है। इन हाथों से हम सेवा के कार्य करें और हाथों की क्षमता का सदुपयोग करें।

पूज्यपाद आचार्य श्री हुक्मीचंद जी म.सा. के नाम का उल्लेख इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने श्रमण संस्कृति पर बहुत उपकार किया है। उन्होंने क्रियाओं को पुनः जीवित किया, वे केवल क्रिया से ही नहीं अपितु भावों से भी जुड़े थे। उनमें कितना सेवा भाव था कि वे अपने हाथों से शास्त्र की प्रतियाँ लिख-लिखकर संतों को भेंट करते थे और ज्ञान के प्रसार में सहयोगी बनते थे। हमें भी चाहिए कि यदि हम आत्म-संतुष्टि चाहते हैं और चाहते हैं कि हम संसार में नहीं भटकें तो अपने जीवन में सेवा के सुनहरे क्षण संजोएं।



## सुमिरण करके साधें मन

शांति जिन एक मुझ विनती.....।

**भ**क्त का भावुक मन शान्ति के स्वरूप की जिज्ञासा लिये शान्तिनाथ भगवान के चरणों में निवेदन कर रहा है- भगवन्! आप शांति के नाथ बन गए हैं। मैं शांति के लिए इतस्ततः दौड़ लगा रहा हूँ फिर भी शांति मुझे प्राप्त नहीं हो रही है। मैं चाहता हूँ कि मुझे शान्ति का कुछ आभास होता है, जिससे मेरी स्थिति उस कस्तूरी मृग जैसी हो गई है जो कस्तूरी की गंध से बेचैन हो, उसकी प्राप्ति के लिये चारों ओर दौड़ लगाता रहता है पर वह उसे कहीं मिल नहीं पाती। वैसी ही दौड़ हमारी भी हो रही है। जैसे वह मृग नहीं जानता कि कस्तूरी कहाँ है, वैसे ही हम भी नहीं जानते कि शांति कहाँ है और उसे इतस्ततः ढूँढते फिरते हैं। वह मिले कैसे ? भक्त प्रभु से प्रार्थना कर रहा है - हे प्रभु! आप त्रिभुवन के स्वामी हैं। शांति के नाथ हैं और आपके साम्राज्य में रहने वाले अशांति में जीए यह अच्छी बात नहीं है। श्रेष्ठ राजा वही कहलाता है, जिसकी प्रजा में अमन चैन हो। भगवन् ! आप त्रिभुवन के स्वामी हैं, शांति का अखूट भंडार आपके पास उपलब्ध है। फिर भी आपके राज्य में रहने वाली जनता, शांति के लिए इधर-उधर भटक रही है। क्या यह आपको अच्छा लग रहा है ? हमें यदि शांति प्राप्त नहीं हो पा रही है तो भगवन् आप कुछ उपचार करें।

एक राजा के पास एक भिरखारी पहुँचा, कहने लगा, मैं भूख्रा हूँ। कुछ आशा लेकर आया हूँ। राजा उदार था। उसने कहा - “**सूर्योदय**

से लेकर सूर्यास्त तक जितनी संपत्ति लेना चाहो, ले जाओ।” भिखारी मारे खुशी के पागल हो गया। घर आया, अपनी पत्नी से कहने लगा- “आज तो कहीं से उधारी भी लानी पड़े तो लाकर दाल-बाटी चूरमा बना दे।” घर की धनीयाणी ने कहा- “ले तो आऊंगी पर चुकाऊंगी कैसे?” अरे तू चिंता मत कर। राजा ने मुझसे कह दिया है कि जितनी सम्पत्ति चाहो ले जा सकते हो। पत्नी ने कहा- पहले लेकर आ जाओ। भिखारी बोला तू भी कैसी बात करती है? भूखे भजन न होई गोपाला पहले मुझे भोजन करवा दे। पत्नी गई और सामग्री लाकर दाल-बाटी चूरमा तैयार कर दिया। भिखारी ने भोजन कर लिया, भरपेट खा लिया, नींद सताने लगी, सोचा थोड़ा विश्राम कर लेता हूँ फिर राजा के पास जाऊँगा। विश्राम कर के उठा तो देखा सूर्य तो ढल रहा था, अभी डूबा नहीं था। जल्दी-जल्दी भण्डार में पहुँचा। साथ में बोरे लाया था। सोचने लगा ये भी भर लूँ, वो भी भर लूँ और भरकर निकलने लगा तो भंडारी ने कहा- सूर्यास्त से पहले जो ले जाते, वह तुम्हारा था, अब सूर्यास्त हो चुका है। अब तुम एक कोड़ी भी नहीं ले जा सकते। बंधुओं! इस दृष्टांत से जाना जा सकता है कि शांति ना मिलने का कारण क्या होता है?

तीर्थकर देव दोनों हाथों से उलीचकर लुटा रहे हैं पर हम अपनी क्षमता कहाँ पहचान रहे हैं। हम तो दाल-बाटी चूरमे से ऊपर नहीं उठ पा रहे हैं। संत कहे तब तक तो ऐसा लगना ठीक है। किन्तु घर जाते ही दोनों लाभ उठाना चाहते हैं और लाभ की उधेड़बुन में सारा जीवन निकल जाता है। न तो धन की प्यास बुझती है और न धर्म का लाभ ही कमा पाते हैं। ऐसी स्थिति में जीवन के अंतिम क्षणों में हमारा ही मन हमें कटोचता है कि यह तुमने क्या किया, क्या नर तन का क्या सार निकाला ? मनुष्य जीवन पाकर तुमने क्या किया, क्या विशेषता प्राप्त की ? उत्तर में बस रोने के अलावा कुछ भी शब्द निकल नहीं पाते।

जिन्हें शांति का साम्राज्य प्राप्त हो गया उतने मात्र से वे शांतिनाथ भगवान् त्रिभुवन के स्वामी कैसे कहलाने लगे ? किस आधार पर हम उन्हें त्रिलोकीनाथ कहते हैं ? यदि हम कहें कि उनका सिक्का चलता है,

उनकी आज्ञा तीनों लोकों में चलती है तो वैसी स्थिति में तो कोई भी मिथ्यात्वी नहीं होगा, सब उनकी आज्ञा में चल रहे होंगे? यदि नहीं चल रहे हैं तो वे त्रिभुवन के धणी कैसे हुए? तब हम कह देंगे कि वे चक्रवर्ती सम्राट थे। अधोलोक में रहने वाले इन्द्र एवं उर्ध्वलोक के इन्द्र उनकी स्तुति करने वाले थे। इसलिए वे तीन लोक के नाथ थे। किन्तु चक्रवर्ती का राज्य कितना होता है ? छः खंड का। अलग-अलग चक्रवर्ती की अपेक्षा से माने तो अढाई द्वीप का क्षेत्र होगा। किन्तु त्रस नाल के बाहर किसका राज्य है? वहां क्या स्थिति है ? गंभीरता से चिंतन करें? हम त्रिलोकीनाथ कहते हैं तो कैसे ? यदि वे नहीं हैं, फिर भी कहें तो क्या लगेगा ? मिथ्यात्व लगेगा, यदि संसार के मार्ग को संसार का मार्ग कहें तो वह मिथ्यात्व कैसे होगा ? अर्थात् लगेगा यकायक ऐसा नहीं कहा जा सकता। किंतु हम मिथ्यात्व की बात बहुत ही जल्दी उठा लेते हैं। यदि ऐसे मिथ्यात्व लगे तो जीवन जीना दूभर हो जाएगा। फिर भी ग्यारहवें गुण स्थान तक मिथ्यात्व लगता रहेगा। भाषा चार प्रकार की होती है। बारहवें गुण स्थान तक कितनी भाषा होती है ? अगले गुण स्थान में केवली बनने वाले हैं, क्या उन्हें मिथ्यात्व लगेगा ? उन्हें मिथ्या भाषा का दोष लग सकता है। मिथ्या भाषा अलग है और मिथ्यात्व अलग है। आज थोड़ी सी बात हो गई तो कह देते हैं कि मिथ्यात्व लग गया। ऐसे मिथ्यात्व लगता रहेगा तो क्या ज्ञापिक सम्यक्त्वी बन पायेगी।

त्रिभुवन के स्वामी की बात बता रहा था, कि वे किस तरह त्रिभुवन के स्वामी हैं। पाकिस्तान से उड़ने वाला विमान भारत में आ जाये, क्या यह अधिकार है उसे ? भारत उसका प्रतिबंधित क्षेत्र है। वहाँ वह उड़ान नहीं भर सकता। वैसे ही भारत का विमान पाकिस्तान परिक्षेत्र में जाना चाहे तो वह भी नहीं जा सकता, क्योंकि वहाँ उसका साम्राज्य नहीं है। जहाँ तक उसका साम्राज्य है वहां तक भारतीय विमान उड़ सकता है। वहाँ उसे कोई रोक-टोक नहीं है, क्योंकि वह उसका स्वक्षेत्र है उसका अधिकार क्षेत्र है। वैसे ही केवलियों के लिए समझना चाहिए। वे केवली समुद्घात करें तो तीन लोक में उन्हें कहीं भी कोई रूकावट

नहीं हो सकती। वे पूरे लोक में आत्म प्रदेश फैला सकते हैं। इस कारण वे त्रिलोक के स्वामी हैं। कोई क्षेत्र उनके लिए प्रतिबंधित नहीं है, उनके लिये कहीं रूकावट नहीं है अथवा त्रिलोकीनाथ होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि तीन लोक के सम्राट, अधिकारी उनकी पूजा-अर्चना में लीन रहते हैं।

ऐसे ही त्रिलोकीनाथ थे भगवान महावीर, जिन्होंने स्वयं शांति का अपार खजाना प्राप्त किया व भव्य प्राणियों के लिए पथ प्रदर्शक बने। भगवान की अनुपस्थिति में उस पथ के संवाहक आचार्य होते हैं। आचार्यों की विशुद्ध परम्परा में नाम आता है- पूज्यपाद आचार्य श्री हुक्मीचंद जी म.सा. का, जिन्होंने एक चादर में 12 वर्षों तक सर्दी-गर्मी सहन की। उनका जीवन-पर्यन्त तेरह वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का त्याग रहा वे 13 चीजें भी मिले तो ठीक, न मिलें तो भी कोई बात नहीं। वे बेले-बेले पारणा करते थे। इसके अतिरिक्त ज्यादा से ज्यादा साधना में लीन रहते थे। परिचय भी वे नहीं बढ़ाते थे। 2000 या 200 णमोत्थुणं प्रतिदिन देते थे जिसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र के 29 वें अध्ययन में कहा गया है कि- **‘थवथुई मंगलेणं भंते जीवे किं जणयइ** स्तव स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है? तो बताया गया ज्ञान-दर्शन-चारित्र, बोधि लाभ को प्राप्त होता है। इस बोधि लाभ के आधारभूत स्तवन को वे प्रतिदिन 2000 अथवा 200 बार गिनते थे। कोई सोचे कि यदि 2000 णमोत्थुणं देते थे तो 2000 में बहुत समय लग जाता है, कैसे उतना समय देते होंगे? यह असंभव लगता है, क्योंकि हम दिन भर उलझनों में पड़े रहते हैं, पर जो स्वाध्याय, ध्यान, मौन में ही निरत हो, उनके लिए 2000 णमोत्थुणं का पाठ कोई कठिन काम नहीं है। पूज्य श्री पन्नालाल जी स्मृति ग्रंथ में 2000 णमोत्थुणं देने का कथन प्राप्त है। आचार्य पूज्य श्री श्री लालजी म.सा. की जीवनी में 200 णमोत्थुणं देने का कथन प्राप्त है। कहाँ प्रिंटिंग त्रुटि है यह ज्ञानियों के ज्ञान का विषय है। इसके अलावा वे शास्त्रों की प्रतियाँ हाथ से लिखकर संत-महापुरुषों को समर्पित करते थे।

आप सुनते हैं कि उन्होंने क्रांति की। उन्होंने आचार क्रांति की



थी। आचार मर्यादा शिथिल होने लगी थी। उन्होंने साधु के लिए क्या कल्पनीय है, क्या अकल्पनीय है। इसका विचार किया यह नहीं जो मन मस्तिष्क में आये वही कल्पनीय हो गया। उन्होंने क्रांति की पर यह मत समझना कि वे आक्रोश में आये या उन्होंने हिंसक क्रांति की। उनके जीवन में क्रांति आई। कभी-कभी व्यक्ति हिंसक भावों को क्रांति समझ लेता है किन्तु जब जीवन में क्रांति घटित होती है तब उसका स्वरूप कुछ अलग ही होता है। उसका जीवन शान्त झरने की भांति प्रवाहित होने लगता है वहां कषाय के कंकर टूटने पर भी मिलना कठिन होता है।

आज हमारे सामने बड़ी समस्या यह है कि इस युग में केवल आचार ही नहीं, हमारे विचार भी प्रदूषित हो रहे हैं आज स्वयं को हम किसी रूप में जैन मान रहे हैं किन्तु हमारा दर्शन कहीं न कहीं बंटा हुआ है, बिखरा हुआ है। वर्तमान में व्यक्ति किस प्रकार दर्शन से भ्रष्ट हो रहा है ग्रन्थों में कहा गया है कि दर्शन -भ्रष्ट की मुक्ति नहीं हो सकती, चारित्र- भ्रष्ट की मुक्ति फिर भी हो सकती है। चारित्र -भ्रष्ट की मुक्ति कैसे हो सकती है? ऊपर से पोशाक नहीं रहे तब भी मुक्ति संभव है। जैसे मरूदेवी माता आदि। पर यदि दर्शन नहीं रहा तो तीन काल में भी मुक्ति नहीं हो सकती। चारित्र के पहले हमें दर्शन को शुद्ध करना है। हमारे विचार शुद्ध है या नहीं, पवित्र हैं या नहीं, हमारे विचार धर्म विमुख तो नहीं हो रहे हैं यह सोचना है। विचार धर्म-विमुख बन गए तो आचार की कड़कता किसी काम की नहीं रहेगी। विचार मलिन है तो आचार कहां कैसे कल्याण कराने वाला होगा? भगवान ने पहले ही स्पष्ट कर दिया -

**सोही उज्जुयभूयरस, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।**

पहले जीवन में सरलता होनी चाहिए। जीवन में यदि बांकापन है, टेढ़ापन है, आंठियाँ बनी हुई हैं तो धर्म का प्रवाह संभव नहीं।

**बहु पुण्य केरा पुंज थी, शुभ देह मानव नो मल्यो।**

**तो ए अरे भव चक्र नो , आंठो नहीं एके टल्यो।।**

‘आंटी नहीं एके टल्यो। कितने आंटे टाले हमने भले ही बहुत सारी पूंजी लगाकर मनुष्य तन पा लिया हो। किसी भी धर्म-ग्रंथ को उठा कर देख लो- मानव-तन की दुर्लभता के गीत सब में गाये गये हैं। इतने गीत गाये गये हैं कि सुन - सुन कर कान भर जाये। पर सोचे कि अन्दर जो आंटे पड़े हैं उन्हें अलग किया है या नहीं? अभी आत्मा अपार्धचरमावर्त में आयी या नहीं? चरमावर्त अर्थात् अंतिम पुद्गल परावर्तन।

हम 21 वीं सदी में प्रवेश कर रहे हैं, पर 22 वीं में करेंगे या नहीं, कोई भरोसा नहीं ये सब जानते हैं। फिर भी आशा कितनी लम्बी हैं। आशा की दीर्घ श्रृंखला को तोड़ नहीं पाते बल्कि और अधिक सिंचन कर के बढ़ाते हैं। आशा जितनी बढ़ेगी, संसार भी उतना बढ़ेगा। जितनी तृष्णा बढ़ायेंगे, एक प्रकार से उतना ही संसार को बढ़ायेंगे। भगवान ने कहा निरोहेण उवेइ मोक्खं तथा तत्त्वार्थ सूत्र में कहां- **इच्छानिरोधस्तपः** पर आज इच्छाओं को और बढ़ाते जा रहे हैं। धर्म क्रिया भी करते हैं तो उसमें भी आकांक्षाएँ धन-दौलत, पद - प्रतिष्ठा आदि-आदि जोड़ ली जाती हैं। विचार करें यदि ऐसे ही विचार बने रहे तो कल्याण कैसे होगा, उससे विपरीत यदि विचार शुद्ध हो गए, जीवन में सरलता आ गई तो कल्याण होते देर नहीं लगेगी।

मरुदेवी माता को कितने वर्ष चारित्र्य का पालन करना पड़ा कितनी सामायिकें की उन्होंने? पर सभी मरुदेवी माता नहीं हुआ करती। मरुदेवी के भीतर कोमलता थी, इसलिए हाथी के हौदे पर बैठे - बैठे मुक्ति प्राप्त कर ली। हाथी के हौदे पर बैठी थी तो भी मुक्ति नहीं रूकी। कोई नकल करना चाहे कि हम भी हाथी पर बैठें तो हमारी भी मुक्ति हो जायेगी। हाथी पर बैठने से ही यदि मुक्ति होती हो तो महाव्रत कभी के मुक्त हो गये होते क्यों वे नौकरी करते ? मुक्ति का हेतु गज- आरोहण नहीं है मुक्ति का हेतु है। अकषाय-वीतरागता-सर्वज्ञता। जब तक वीतरागता के बाधक कर्म सत्ता में पड़े रहेंगे तब तक मुक्ति संभव नहीं है। कर्मों को क्षय करने के लिए व्रतधारी बनना होता है। साधु पूर्ण व्रत धारी होता है, इसलिए महाव्रत धारी कहा जाता है। श्रावक पूर्ण रूप से व्रत स्वीकार नहीं कर पाता, वह देश व्रती होता है।

साधुओं की भी अलग-अलग श्रेणियाँ हैं। स्थविर कल्पी, जिन कल्पी एक दृष्टि से चिंतन करें तो श्रमण का अर्थ होता है श्रम करने वाला वह निकम्मा न बैठे। इसलिए साधु की जो दिनचर्या बताई है वह इतनी व्यस्त है कि वह किसी भी समय निठल्ला न रहे। हर समय स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन में चले। इसलिए शाम के समय जब स्वाध्याय का काल न हो, तब प्रतिलेखन करे, प्रतिक्रमण करे। इसी प्रकार सुबह स्वाध्याय का काल न हो, तो प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन करे। ताकि वह यह नहीं कह सके कि अभी स्वाध्याय करना नहीं है तो क्या करूँ ?

आचार्य हुक्मीचंद जी म.सा. ने कभी यह विचार नहीं किया कि मुझे आचार्य बनना है। न ही उन्होंने स्वयं को आचार्य बनाया। किन्तु बीकानेर के प्रांगण में अपने कर कमलों से उन्होंने पंडितरत्न श्री शिवलाल जी म.सा. को आचार्य पद की चादर प्रदान की थी चादर प्रदान कर्ता होने से उन्हें आचार्य माना गया। चतुर्विध संघ ने उन्हें आचार्य- पूज्य श्री के रूप में स्वीकार किया अतः उन्हें आचार्य कहाँ जाता है। इस प्रकार से संघ का विधिवत रूप उपस्थित हुआ उसी प्रसंग पर-

बीकानेर में चार दीक्षाओं का प्रसंग था। श्री सरदारमल जी अन्नवाल ने देखा 4 नाई मुण्डन कार्य कर रहे थे। पर एक नाई रो रहा था। उससे पूछा “क्या बात है” तब उसने कहा मैं निर्भागी हूँ अब तक मैंने मुण्डन तो बहुत किये, गमी होने पर भी किये, जन्म के प्रसंग पर भी किया पर दीक्षा के मुण्डन का सौभाग्य मुझे नहीं मिला” लाला जी की भावना तो पहले से ही बनी हुई थी, पर वृद्धा अवस्था के कारण परिवार वाले रोक रहे थे। लालाजी ने सोचा शरीर तो जाएगा ही पर आज यदि दीक्षा का प्रसंग बने तो एक व्यक्ति का दर्द दूर होगा। उसकी भावना पूर्ण होगी। इस विचार के साथ वे पांचवें दीक्षार्थी के रूप में उपस्थित हो गये और लोग देखते ही रह गये इस प्रसंग की बहुत प्रसिद्ध कुछ पंक्तियां सुनी होंगी-

**कोटा जाजो, बूंदी जाजो, जाजो बीकानेर।**

**बीकानेर रा सूतर लाजो, चेला लाजो चार।**

**म्हारा महाराज सा. ओ राज.....।**

बीकानेर के शास्त्र जो यतियों के खजाने में थे, वे महत्वपूर्ण माने जाते थे और पूज्य श्री चार चले लायें तो क्या हो गया अर्थात् चार की जगह पाँच आए। अतः चेला लाजो चार सौभाग्य सूचक माना गया सवाया हो गया। कोटा और बूंदी का संबंध भी पूज्य आचार्य हुक्मीचंद जी म.सा. से जुड़ा हुआ है। वे कोटा सम्प्रदाय के थे। बूंदी में उनकी दीक्षा हुई थी और बीकानेर में आचार्य पद के साथ - साथ सवाया काम हुआ था। इस कारण गाया जाता है -कोटा जाजो, बूंदी जाजो....।

पूज्य हुक्मीचंद जी म.सा. ने जो क्रियोद्धार किया उससे धर्म-संघ या दूसरे रूप में सम्प्रदाय से उनका नाम जुड़ गया। संघ क्या है ? संप्रदाय क्या है ? जैसे दूध के लिए कटोरे की, ग्लास की आवश्यकता होती है, अन्यथा दूध बिखर जाये वैसे ही ज्ञान - दर्शन, चारित्र के लिये संप्रदाय जरूरी है। इन्हीं भावों से संघ व सम्प्रदाय को समझना चाहिए।

आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. द्वारा पूज्य श्री शिवलाल जी म.सा. को चादर प्रदान की, साधुमार्गी संघ के विधिवत् गठन का प्रसंग बना। हालांकि उन्होंने कोई परम्परा नहीं आचार्यत्व के प्रतीक रूप वह शुभ दिन आज का ही था अर्थात् माघ सुदी. पंचमी का दिन था, जिसे बसंत पंचमी भी कहा जाता है। चतुर्विध संघ में जो जर्जरित मान्यताओं का पतझड़ ज्ञानादि गुणों का सम्यक् विकास ही इसी उद्देश्य से चलाई। साधुमार्गी का तात्पर्य किसी संप्रदाय या संघ से मत ले लेना क्योंकि यदि उसे अनंत तीर्थकरों से जोड़े तो वह अनादि का स्पर्श करता है। आचार्य श्री हुक्मीचंद जी म.सा. ने बीकानेर को उर्वरधरा के रूप में देखा। कालान्तर में मरूधर केशरी जी म.सा. ने आचार्य देव श्री नाना लाला जी म.सा. के संबंध में जब वे छत्तीसगढ़ में विचरण कर रहे थे। तब एक दोहा बीकानेर संघ के सदस्यों के साथ भेजा था।

**बीकाणो विसरो मती,**

**तिजोरी टक्साल।**

**अठी- अठी ने अवलोकलो**

**मिले न इसड़ो माल।।**

बीकानेर को भूलना मत बीकानेर में बड़ी हवेलियां हैं इसलिए नहीं, किन्तु दीक्षा की दृष्टि से देखें तो वहाँ की भूमि उर्वर है।

बंधुओं ! चिन्तन - मनन करें, क्योंकि पूर्व के महापुरुषों का स्मरण करते हैं तो उनके जीवन से प्रेरणा मिलती है जिससे हमारे विचार शुद्ध बनते हैं। विचार शुद्ध होंगे तो आचार में भी शुद्धता आएगी। दर्शन को शुद्ध करिये। टंकी में पानी शुद्ध होगा तो नल में भी शुद्ध पानी आयेगा कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारे दर्शन में जालें - घुण कीटाणु आदि लग कर उसे क्षत-विक्षत कर रहे हो। दर्शन-शुद्ध हो गया हो तो उससे भीतर की भूमिका सरल बनेगी जिस पर आचार-शुद्धि के कदम रखे जा सकेंगे। यदि जीवन ऐसा बना तो जीवन सार्थक हो पायेगा। इसके लिए महापुरुषों का गुण स्मरण सशक्त साधन है। अतः मैं कहना चाहूँगा - **सुमिरण करके साधे मन।**



## पा ले मनवा शांत समीर

### शांति जिन एक मुझ विनती.....।

शांति के स्वरूप प्राप्ति की अभिलाषा लिए भक्त या साधक प्रभु के चरणों में जब उपस्थित होता है तब वह चाहता है कि उसे शांति प्राप्त हो जाय। कोई प्रभु के चरणों में उपस्थित हो और शांति नहीं मिले तो यह उचित भी नहीं लगता। पर यदि तब भी हम शांति प्राप्त नहीं कर पाते या शांति को प्राप्त नहीं हो जाते तो जानना होगा कि हम अशांत किस कारण से बने हुए हैं, जब-तक इसकी खोज न कर लें और अशांति के कारण को न जान लें, तब-तक शांति कैसे प्राप्त हो पाएगी ? यदि कोई यंत्र शांति दे पाता तो अब तक वैज्ञानिक ऐसे कई यंत्र इजाद कर देते। परंतु शांति यांत्रिक नहीं है और न ही वह तान्त्रिक है। तंत्र विद्या से भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः यह गवेषणा करनी चाहिए कि शांति क्या है एवं हमारी अशांति किस कारण से है।

अशांति का कारण ढूंढते हैं तो लगता है कि अशांति का कारण हमारा मन है। इसीलिए कहा गया है कि मन की परीक्षा करें। पर मन की परीक्षा कैसे करें, क्योंकि व्यक्ति जिस मन के कारण अशांत होता है वही मन उसे प्रफुल्लता देने वाला भी बन जाता है। इसलिए कौन सा मन अशांति देने वाला है और कौन सा मन शान्ति देने वाला है ? इस पर समीक्षण प्रज्ञा का उपयोग करने पर ज्ञान होता है कि कषाय वासित मन अशान्ति कारक है। कषाय के परिणाम ही मानस पटल को उद्वेलित करते हैं। वह उद्वेलन शांत अवस्था में भी अशांति का संचार कर देता है,

इसलिए मन की सही तरीके से परीक्षा करें। ऐसा करने पर अशांति दूर करना सहज हो जाएगा। शत्रु की ताकत यदि परिज्ञात हो जाये कि जो शत्रु सामने आ रहा है, उसकी ताकत कितनी है तो उससे युद्ध करने में सरलता और सुविधा हो जाती है। शत्रु की ताकत का पता नहीं हो तो चाहे व्यक्ति कितना भी सधा हुआ हो, सेना भी हो, पर उसे पराजय का मुख देखना पड़ सकता है। इसलिए शत्रु की ताकत देख ली जानी चाहिये और यह जानकारी भी प्राप्त कर लेनी चाहिये कि वह किन-किन शस्त्रों का प्रयोग कर सकता है।

आज परमाणु अस्त्रों की होड़ लगी हुई है। हर देश देख रहा है कि मेरे पड़ोसी देश के पास परमाणु अस्त्र हैं। उससे मुझे कभी भी खतरा हो सकता है। कभी भी उसकी निगाह की चपेट में आ सकता हूँ, इसलिए मुझे परमाणु अस्त्रों का जखीरा इकट्ठा करके रखना चाहिए। इस स्थिति में परमाणु अस्त्रों की होड़ बढ़ती जाती है। एक तरफ निःशस्त्रीकरण की बातें होती हैं किन्तु निःशस्त्रीकरण हो नहीं पाता। ऐसे देशों की बातें सुनकर हम सोचेंगे कि ये राजनीति के खेल हैं, राजनेताओं की बातें हैं, हमें इनसे क्या लेना-देना उपर्युक्त कथन भले ही राजनेताओं से जुड़ा हुआ हो ? ध्यान रहे पर हमारे भीतर भी ऐसा ही राजनीतिक खेल चल रहा है। एक तरफ तो हम शांति चाहते हैं और दूसरी तरफ परमाणु अस्त्र भी भरते जा रहे हैं। यदि उन्हें भरते जाएंगे तो शांति कैसे मिलेगी ?

कल्पना कीजिये एक सेठ के गोदाम में बारूद भरा हुआ है और उसे मालूम पड़ जाए कि गोडाउन के बहुत निकट आग लग गई है, तो क्या वह शांति से रह पाएगा ? अब तक उसने जितना बारूद इकट्ठा किया है और जिसे उसने अपने गोडाउन में भर रखा है, वे बारूद उसे चैन नहीं लेने देंगे, क्योंकि वह जानता है कि एक भी चिंगारी लग गई तो वह विनाशकारी हो सकती है। ये बारूद है हमारे कषाय, जिसे हमने अपने गोडाउन (स्वयं में) में भर रखा है। एक चिन्गारी - किसी ने कुछ कहा कि हमारे कषाय रूपी बारूद में विस्फोट हो जाता है। इसी कारण

हम अशांत बने रहते हैं। इस संदर्भ में भगवान की वाणी है -

**कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्डमाण।  
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचति मूलांड पुणब्भवस्स॥**

अनिग्रहीत अर्थात् वह क्रोध या मान, जिसका निग्रह नहीं कर लिया गया हो। 'अनिग्रह' अर्थात् जिस पर विजय प्राप्त नहीं की गई है।

कषाय के अलग-अलग प्रकार होते हैं। एक कषाय बाहर निकल पड़ता है, जैसे बारूद की बमबारी होती है। दूसरा कषाय - क्रोध को भीतर पालता है, बाहर नहीं निकालता। तीसरा कषाय वह क्रोध है जिसकी अनुभूति नहीं होती पर जो भीतर सुलगता रहता है। चौथा क्रोध इतना बारीक होता है कि हम उसे पहचान ही नहीं पाते हैं।

पहले प्रकार के कषाय से लगेगा कि व्यक्ति क्रोधी है, उसके बोलने से, व्यवहार से, हाव-भाव से एवं चढ़ी भृकुटि होने से यह अनुमान हो जाता है यह पहले प्रकार का क्रोध है। ऐसा क्रोध झट बाहर उछल कर आ जाता है।

दूसरा सभ्य क्रोध है। जैसे बाहर से व्यक्ति सभ्य लग रहा है पर भीतर वह कितना हिंसक है, कितना मायावी, प्रपंची है ? उसकी पहचान करना कठिन होता है। पोशाक पहनी हुई है, धोती-कुर्ता एकदम स्वच्छ है, पर भीतर की शुद्धि कैसी है, इसकी पहचान करने वाले ही कर सकते हैं। ऊपर से स्थिति कुछ और लगती है पर अन्दर की स्थिति उससे भिन्न होती है। ऐसा व्यक्ति स्वयं जानता है कि उसके अन्दर क्रोध की भट्टी सुलग रही है, अशांति की घुटन हो रही है, पर ऊपर से वह मुस्कुराता रहता है। ऐसा स्वभाव दूसरे क्रोध का है।

तीसरा क्रोध- वह है जो रह-रहकर सालता रहता है, लगातार नहीं। मन में विचार उठे, प्रतिद्वंद्विता के भाव जगे। मन में थोड़ा-सा विकार आया, फिर सामने कोई अनुकूल प्रसंग आ गया तो हिल-मिल कर बोल लिया किन्तु प्रतिकूल स्थिति बनते ही उस व्यक्ति के प्रति अभिव्यक्ति अनुकूल नहीं रह पाती जिससे हिल-मिल कर बोला था तब



वह प्रतिकूल अभिव्यक्ति प्रकट करता है। यह तीसरे प्रकार का क्रोध है।

चौथा क्रोध वह है जो हमारे उदयभाव की स्थिति से चल रहा है, पर अनुभूति में नहीं आ पाता है। हमें लगता है कि हम शांत अवस्था में हैं पर भीतर क्रोध चलता रहता है। जैसे नदियाँ होती हैं - एक नदी तो उफान की अवस्था में है, दूसरी में प्रवाह चल रहा है, तीसरी में ऊपर तो पानी नहीं पर हाथ, दो हाथ खोदने पर पानी निकल आता है। चौथी ऐसी है जिसमें गहरे में पानी है, शिरायें हैं, पानी चल रहा है। ऐसे ही चौथे प्रकार का क्रोध हमारे भीतर भी चलता रहता है पर हम उसकी अनुभूति नहीं कर पाते हैं, सिद्धान्त की दृष्टि से सूक्ष्म रूप कषाय हमारे अध्यवसायों में निरन्तर चलता रहता है। कभी क्रोध, कभी मान, कभी माया तो कभी लोभ चलता रहता है। किन्तु कोई भी समय ऐसा नहीं होता जिसमें चारों में से किसी एक का भी उदय न हो। इसलिए कषायों के स्वरूप का बारीकी से अध्ययन करें, इन्हें पकड़ने की कोशिश करें। नहीं पकड़ पाओगे तो मन की सही तरीके से परीक्षा हो नहीं पाएगी।

आप रेडियो स्टेशन मिलाते हो यदि सही नहीं लगता है तो खड़-खड़ की आवाज आती है उससे आप समझ लेते हैं कि स्टेशन सही नहीं लगा है। जिससे आप उस स्टेशन से प्रसारित होने वाले कार्यक्रम आप सुन नहीं पायेंगे। उसे सुनने या देखने के लिए आवश्यक है कि सही स्टेशन लगाया जाये। सही स्टेशन लग गया तो फिर वह रिले होने वाले कार्यक्रम को पकड़ लेगा। वैसे ही यदि हमने सही तरीके से स्टेशन पकड़ा तो अनुभूति कर पाएंगे और हमारे भीतर कषायों का जो प्रवाह चल रहा है उसे पकड़ पायेंगे।

आचारांग सूत्र में कषायों को देखने के संबंध में कहा गया है-

**‘जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी’**

जो क्रोध को देखने वाला है, वह मान को देखने वाला है। यदि देखना शुरू कर दिया तो शत्रु की शक्ति बहुत कम पड़ जायेगी। परा-मनोविज्ञान आज इस तथ्य को प्रस्तुत कर रहा है हालाँकि हमारे आगमों

में जो बातें आई हैं, उन तक पहुंचने में हम अटकलों से चलते रहे हैं इसलिए उन तक पहुंच नहीं पाते किन्तु परा-मनोविज्ञान जो तथ्य प्रस्तुत करते हैं उनके अनुसार विचार करें तो लगता है कि वे शास्त्रों में फिट बैठते हैं। यूं कहूं उनकी व्याख्याओं के आधार पर हम शास्त्रों को हृदयंगम कर सकते हैं और उसकी गहराई में पहुँच सकते हैं। परा-मनोविज्ञान की मान्यता है कि किसी पदार्थ या चम्मच को आप एकटक एकाग्रचित्त होकर देखते रहेंगे तो आपकी दृष्टि की शक्ति को उस पर प्रतिक्रिया दिखाई देगी। दृष्टि हिलनी नहीं चाहिए, वैसी होनी चाहिए जैसी अर्जुन की थी। जब अर्जुन से पूछा गया कि तुम्हें क्या दिख रहा है ? कितने लोग तुम्हारे सामने बैठे हैं ? तब उसने कहा " मुझे तो केवल पुतली की आँख दिख रही है।" पर हमारी यह स्थिति है कि यहां कितने लोग आ रहे हैं कौन सामायिक कर रहा है और कौन नहीं कर रहा है, हमें ज्ञात हो रहा है। ऐसी स्थिति में जब हम एकाग्रचित्त अवस्था में नहीं हैं तो कैसे क्रोध को देख पाएँगे ? परा-मनोविज्ञान के अनुसार दृष्टि स्थिर करनी आवश्यक है, जैसी अर्जुन ने की थी, तब क्रोध को देख पाना संभव होगा।

द्रोणाचार्य ने कहा - "हम पास में खड़े हैं, चंदोवा बंधा है" पर अर्जुन ने कहा - "मुझे कुछ नहीं दिख रहा है, केवल वह पुतली दिख रही है जिस पर निशाना लगाना है।" तब द्रोणाचार्य का मन प्रफुल्लित हो गया, कम से कम मेरी लाज रखने वाला एक तो उत्पन्न हुआ और आज जिस भगवान ने हमें बहुत शिक्षा दी है वह भगवान हमसे पूछे 'वत्स ! क्या देख रहे हो ?' तो हम कहेंगे 'भगवन ! मैं तो सारी दुनिया देख रहा हूँ।' हो जाएंगे भगवान प्रसन्न ?

बंधुओं ! कोई अर्जुन मिलेगा या नहीं ? यह बता पाना कठिन है। एकदम अभाव तो नहीं है, किन्तु संख्या का मापदण्ड लिया जाय तो कितने अर्जुन निकलेंगे ? वहाँ द्रोणाचार्य के इतने शिष्यों में एक अर्जुन निकला था भगवान के शिष्यों में कितने मिलेंगे ? सबसे पहले तो हम परीक्षा देने को तैयार ही नहीं होंगे क्योंकि हम तो मान कर चल रहे हैं कि बंद मुट्ठी लाख की, खोल दी तो खाक की। पोल खुल जायेगी।

कहते हैं चंपा के चार द्वार बंद हो गये। देववाणी हुई जिस शीलवती नारी में मनसा, वाचा, कर्मणा पर-पुरुष के प्रति हल्की सी लहर भी नहीं आई हो वह कच्चे सूत से चलनी बांध कर कुएँ से पानी निकाल कर द्वार पर छींटें डाले तो द्वार खुल जायेंगे। गांव और नगर की बहनों ने सुना। सम्राट ने घोषणा करवाई। कई बहनों ने कोशिश भी की, कई कच्चा धागा बांधकर चलनी उतार भी नहीं पाई, कई उतार पाई पर पानी भर नहीं पाई। किन्तु उनके साहस की दाद तो देनी पड़ेगी। उन्हें अपने पर इतना विश्वास तो था। यह बात अलग है कि वे अपने भीतर की उस बारीक लहर को पहचान नहीं पाई थीं, पर उन्होंने ऊपर से कोई कुकृत्य नहीं किया था, यदि किया होता तो वे इतना साहस नहीं कर पाती। वे परीक्षा में खड़ी होने के लिए भी तैयार नहीं होती। कई आई और चली गई। जब देखा कि अब कोई नहीं आ रही है तो सम्राट ने रानियों से कहा - “तुम राजमहलों में रहने वाली हो तुम भी जाओ।” तो रानियों ने कहा- “महलों की बात महलों में रहने दो, पर्दा न उठाओ। पर्दा उठ गया तो ठीक नहीं रहेगा। जो जैसा है वैसा ही रहने दो।”

बंधुओं ! आज आंतरिक हलचल की बड़ी विचित्र दशा है। हमारे भीतर किस-किस रूप में कषाय प्रवाहित होते हैं, हम जान ही नहीं पाते। कभी हम कुछ जान पाते हैं परन्तु बहुत से प्रवाहों को तो जान ही नहीं पाते हैं। उसी नगर की एक महिला जो दृढ़धर्मी थी, जिसे स्वयं पर पूरा विश्वास था, वह जाने को तत्पर हुई। उसका नाम था सुभद्रा। सासू से अनुमति माँगी, कड़वे बोल भी सुने, पर गई। कच्चे धागे से चलनी बाँधकर कुएँ में उतार दी और जल भी निकाल लिया। बंधुओं आज यह असंभव लगता है पर परा-मनोविज्ञान कहता है कि यह असंभव नहीं है। आप कहेंगे ये बातें परा-मनोविज्ञान की हैं, आगमों से इनका क्या संबंध ? ये समझिये कि आगमों में भी परा-मनोविज्ञान के तत्व भरे हुए हैं। हमने उन्हें पहचाना नहीं है। साधा नहीं है।

कृष्ण वासुदेव ने तेले की तपस्या की, देव को बुलाने के लिए। वह क्या था ? वह परा-मनोविज्ञान था या नहीं ? देव का आसन प्रकंपित

हुआ या नहीं ? क्यों हुआ ? इसलिए कि कृष्ण ने एक लक्ष्य बना लिया था। शास्त्रों में ऐसे एक नहीं, अनेक तत्व भरे हुए हैं पर हमने उन तत्वों को जाना नहीं है, साधा नहीं है। हम कहानी को कहानी के रूप में पढ़ते हैं। उसकी गहराई तक पहुँचने की कोशिश नहीं करते। परा-मनोविज्ञान कहता है- यदि दृष्टि केन्द्रित कर दी जाये तो उस दृष्टि से बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ, गाड़ियाँ रोकी जा सकती हैं। चम्मच के टुकड़े किये जा सकते हैं।

पूज्य गुरुदेव फरमाते थे कि एक फक्कड़ साधु ट्रेन में यात्रा कर रहा था। अंग्रेजों का जमाना था। फर्स्ट क्लास में चढ़ा, उसके पास टिकिट भी था। एक अंग्रेज अधिकारी भी उसी डिब्बे में चढ़ा। उसने देखा उसमें फक्कड़ बैठा है। उसका दिल हिल गया। कहीं कोई जंत्र-तंत्र-मंत्र न कर दे। अंग्रेज भारतीयों से डरते थे। उनका बल अधिकार का बल था। भीतर का बल नहीं था। भारतीयों के पास आत्मिक बल था। अपनी तानाशाही से अंग्रेज अपनी बात तो मनवा लेते थे। पर भीतर से भयभीत रहते थे। ना जाने किस समय सीने पर चढ़ बैठे। अंग्रेज ने अधिकारियों को बुलाकर कहा- “इसे बाहर निकालो, दूसरे डिब्बे में बिठाओ।” अधिकारियों ने फक्कड़ से कहाँ आप उतर जाइये। दूसरे डिब्बे में चले जाइये। वह फक्कड़ अकड़ कर बोला “मैं क्यों चला जाऊँ।” अंग्रेज अड़ा रहा कि इसे हटाओ इसके रहते हम नहीं बैठ सकते। उनकी सत्ता थी, इसलिए दबाव डालने लगे। अंग्रेज ने कहा- इसके कम्बल, कमण्डल आदि उठाकर प्लेटफार्म पर डाल दो, उतरे नहीं तो धक्के देकर उतारो। फक्कड़ ने सोचा धक्के देकर उतारे उससे तो अच्छा है पहले ही उतर जाऊँ और वह उतर गया। प्लेटफार्म पर बेंच पड़ी हुई थी, उस पर करवट लेकर सो गया।

अफसर ट्रेन में बैठ गया पर अभी तक ट्रेन स्टार्ट नहीं हुई थी। अंग्रेज ने कहा - “क्या बात है लेट क्यों कर रहे हो ? गाड़ी स्टार्ट क्यों नहीं करते ?” सिग्नल हो गया था, गार्ड ने झंडी दिखा दी पर गाड़ी शू-शू कर के रह गई। बड़ी ही नहीं। इंजन भी हिला नहीं। हो क्या गया ? गाड़ी चल ही नहीं रही थी। चेक कर लिया गया। कहीं कोई गड़बड़ी नहीं

थी। दूसरा इंजन उसके आगे लगाकर खींचने की कोशिश की गई पर, क्या मजाल कि इंजन हिल जाय। सभी कोशिशें कर ली गई पर वह इंजन हिलने का नाम ही नहीं ले रहा था। अफसर नाराज होने लगे, हमें देर हो रही है, रेलवे अधिकारी बोले, “क्या करें साहब ? गाड़ी चलती ही नहीं है।” खोज की गई, तो मालूम पड़ा कि कुछ ऐसी किरणें आ रही थी जो इंजन के पहिये पर पड़ रही थी, जिनके कारण इंजन हिल नहीं पा रहा था। किरणों का उद्गम देखा गया तो मालूम पड़ा कि उस फक्कड़ ने उस पर दृष्टि लगा दी है, उसने दृष्टि की किरणों से ट्रेन को रोक दिया था यह था परा-मनोविज्ञान का प्रयोग।

यही बात प्रभु महावीर कह रहे हैं कि यदि कोई सूक्ष्मता से क्रोध को देख ले तो वह तितर-बितर हो जायेगा। जो क्रोध हमारे भीतर दृढ़िभूत हो गया है उस पर यदि दृष्टि गड़ा दी जाय तो वह चम्मच की तरह पहले मुड़ेगा फिर टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। यह कार्य केवल दृष्टि से ही सकता है। ऐसे ही मनोशक्ति को केन्द्रित कर कषायों को देखना प्रारंभ करें तो वे तितर-बितर हो जायेंगे। सूर्य की किरणें निकलते ही कोहरा और धूँअर बिखरने लगता है। धूँअर के गोटे के गोटे भागने लगते हैं, छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। धूँअर की पहचान यह है कि उसमें दूधियावर्णी बादलों की आकाश में गादी बिछ जाती है। थोड़ा-सा भी नीलापन नजर नहीं आता। जैसे ही हवा चलती है सूर्य निकलने लगता है। बादल दौड़ने लगते हैं। फिर नीली झाँई सामने आती हैं। बादल दौड़ने लगते हैं। भले ही घने बादल हो पर हवा उन्हें छितर-बितर कर देती है। बंधुओं, जैसे आतशी शीशे से सूर्य की किरणों को केन्द्रित कर आग उत्पन्न की जा सकती है। वैसे ही क्रोध को यदि हम देखने लग जाए तो क्रोध के परमाणु भस्म किये जा सकते हैं। पर हम दृष्टि डालते कहाँ है ? देखते कहाँ हैं ?

कवि आनंदधन जी कहते हैं - ‘मन केम परखाय रे’

मन पर परतें पड़ी हुई हैं जिससे हम उसे देख नहीं पाते तो शांति के स्वरूप को कैसे जान पाएंगे ? हम शास्त्रों का पाठ कर लेते हैं, अर्थ भी जान लेते हैं, पर उसके अनुरूप जीवन साधते नहीं हैं।

भगवान ने शब्द और अर्थ का ज्ञान करने के लिए ही नहीं कहा है उसके अनुरूप स्वयं को ढालने के लिए कहा है। प्रतिक्रमण हम रोज करते हैं पर पाठों में क्या भरा है, यह पता ही नहीं है। बारह व्रत नहीं लिये हैं तो ज्यादा लाभ नहीं मिलेगा। प्रतिक्रमण करने से हानि तो नहीं है पर यथेष्ट लाभ भी नहीं मिलेगा। पहले गहरी परतों को उतारो। फिर जीने का प्रयास करो। यो तीर्थंकर देवों ने हमें जीने की कला दी है पर हम उसके अनुसार जीते कहाँ है ?

व्यक्ति चाहता नहीं कि तनाव आएँ, संक्लेश आये। फिर भी अशांति के झूले में झूलता है। क्या कारण है ? क्यों झूलता है ? जब-तक कारण की खोज न कर ली जाये जिन्दगी आराम से बसर नहीं हो सकती। जैसे मैंने चार प्रकार क्रोध की अवस्थाएँ बताई थीं। थोड़ी देर भले ही चेहरे पर रौनक आ जाय पर उसके पीछे कषायों की परत है इसलिए जितनी चाहिए उतनी शांति का अनुभव कर नहीं पाएंगे। हाँ थोड़ी देर के लिए भले मन को बहला लें। पर शांति नहीं मिलेगी। जैसे बच्चा खिलौने से मन बहला लेता है, वैसे ही हम भी किसी चीज से मन बहला लेते हैं। पर इस प्रकार शांति अधिगत नहीं हो पाएगी। कषाय पर विजय पाने के लिये भगवान ने यह नहीं कहा कि दूसरी चीजों से मन बहला लो। बल्कि, जो तुम्हारे पर हावी है। जिसको तुमने पनाह दे रखी है, वही तुम्हारा स्वामी बन बैठा है, उसे निग्रहीत करो। उसे वश में करो। जब तक उसे अपने अधीन नहीं करोगे, तब तक क्रोध-मान चैन नहीं लेने देंगे। थोड़ी देर भले मन बहला लो फिर वही तनाव का दौर चलेगा। ऐसे ही मन से वह दौर थमने वाला नहीं है। उसके लिए पुरुषार्थ जगाना ही पड़ेगा। उसे जानने की जिज्ञासा पैदा होना भी बहुत बड़ी उपलब्धि है। कवि ने कहा भी है -

**धन्य तू आत्म जेह ने, एहवो प्रश्न अवकाश रे .....**

अहो ! मैं तुम्हें बहुत धन्यवाद देती हूँ, मानो हमारी सन्मति कह रही है- धन्यवाद। तुम्हारे मन में ऐसा प्रश्न तो उभरा, उसे अवकाश तो मिला अन्यथा तुम्हारा मस्तिष्क इतना भरा है कि उसमें प्रश्न को

अवकाश ही नहीं है। कम से कम उसमें इतने चिंतन की अवकाश तो मिला कि शांति का स्वरूप कैसा है ? यह जानने को जिज्ञासा उत्पन्न हुई। यही भावना तुम्हें धन्यवाद का पात्र बना रही है। तुम्हारे भीतर कुछ न कुछ शांति के लिए स्थान तो हुआ, यह भी बड़ी बात है अन्यथा आज हमारी चाह तो रहती है, शांति की दिशा में कदम बढ़ाने की पर हमारी गतिविधि अशांति के दौर से गुजर रही है। जब-वह अशांति के चक्रव्यूह में जा रही है तो अशांति ही मिलेगी।

बंधुओं ! चिंतन-मनन करिये। इतिहास के पृष्ठ उलटकर प्रमाण प्राप्त करना चाहें तो कर सकते हैं। कहीं भी किसी ने भी कभी कषायों से शांति प्राप्त नहीं की है। की हो तो बता दीजिये। भगवान महावीर त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में थे। शय्या पालक के कानों में गरम-गरम शीशा डलवा दिया था। क्यों ? वासुदेव ने शय्या पालक से कहा था- “मैं सो रहा हूँ। नींद आ जाय तो संगीत बन्द करवा देना।” आखिर वह भी आदमी था। उसका भी मन था। पर संगीत ऐसा चला कि वह उसमें ऐसा रम गया कि उसे पता नहीं चला कि कब वासुदेव को नींद आ गई। संगीत का सुमधुर स्वर ऐसा चला कि वह स्वयं को भूल ही गया। जब स्वयं को ही भूल गया तो वासुदेव की आज्ञा कहाँ याद रह पाती। वासुदेव की नींद खुली तो देखा संगीत अभी भी चल रहा है। अनुचर से कहा - मैंने तुम्हें आज्ञा दी थी कि मेरी नींद लग जाए तो संगीत बंद करवा देना। वासुदेव की आवाज सुन अनुचर पूरा काँप गया वह प्रकम्पित स्वर में बोला, “स्वामी मेरे कर्णों को प्रिय लगा मैं बंद नहीं करवा सका।” वासुदेव के नेत्र आरक्त हो गये, उन्होंने कहा - “अच्छा, तुम्हारे कानों को प्रिय लगा। तुम्हारे कान मेरी आज्ञा टाल कर संगीत सुनने को तैयार हो गये ? क्रोध तीव्र हो गया। ऐसी तो कोई अनर्गल बात नहीं हुई थी कि इतना क्रोध आ जाता पर जिसमें जितना सामर्थ्य होता है, वह उतने ही सामर्थ्य से प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। स्टेनगन में जितनी शक्ति है उतनी ही शक्ति से वार होगा। बंदूक की अपेक्षा मिसाइल से अधिक दूर तक मार होगी। जितनी बंदूक की शक्ति है, क्या स्टेनगन व मिसाइल

में भी उतनी ही शक्ति होती है ? जो जितना समर्थ है वह उतनी ही शक्ति दिखाता है। बेचारा कोई गरीब इतना क्रोध थोड़े ही कर सकता है ? तीन खण्ड का अधिपति है, उसकी शक्ति तो मिसाइल का काम करेगी ही। तुम्हारे कान मेरी आज्ञा कैसे टाल सकते हैं ? दूसरे अनुचरों को आदेशित किया और उबलता हुआ शीशा कानों में डलवा दिया। यह था क्रोध का परिणाम। मेरी आज्ञा की अवलेहना कर दी ! दूसरी तरफ अनुचर छटपटा रहा था पर क्या कर सकता था। कसाई जब किसी पशु का कत्ल करते हैं तो कई तो झटके से करते हैं, कई हलाल करते हैं। पशु के चारों पैर खूंटियों से बंधे होते हैं और करवत-आरी उनकी गरदनों पर चला दी जाती है। कितने छटपटाते हैं पर कोई सुनने वाला नहीं होता है। इसी प्रकार वह अनुचर भी छटपटा रहा था। पर कौन सुने ? उसके मन में तीव्र रोष पैदा हुआ। वैरानुबंधी वैर के रूप में निकाचित कर्मों का बंध किया उसका परिणाम किस रूप में सामने आया ? कानों में कीलें ठोके गये। यह था उसका भीषण परिणाम। घटना इस प्रकार बनी कि वह शय्यापालक ग्वाला बना और त्रिपृष्ठ वासुदेव का जीव भगवान महावीर बना। शय्यापालक के जीव ने भगवान महावीर के कानों में कील ठोककर वैर का बदला लिया।

बंधुओं ! विचार करें भले आज हम वैसा शीशा नहीं डाल रहे हैं पर मुंह से निकलने वाले गरमा-गरम शब्दों का शीशा तो डाल ही देते होंगे। इस शीशे को डालते हुए कभी यह भी सोचा कि परिणाम क्या आयेगा ? परिणाम शांति का आएगा या अशांति का ? इसलिए मैंने कहा - इतिहास के पृष्ठ देखना चाहते हो तो देख सकते हो।

विचार करें, आप वीतराग भगवन्तों के उपासक हैं, श्रमणोपासक हैं, तो आपके भीतर की अवस्था कैसी होनी चाहिए ? हम आहार उपाधि का त्याग कर देते हैं किन्तु जिसका त्याग किया जाना चाहिए उसका त्याग कितना कर पा रहे हैं ?

एक शिष्य पहुंचा गुरु के चरणों में और निवेदन किया “मुझे संथारा करवा दो।” गुरु ने कहा - “वत्स ! पतला करो।” उसने



मासखमण किया। शरीर कुछ दुबला हुआ। गुरु चरणों में पुनः वही निवेदन “मुझे संथारा करवा दें।” गुरु का वापस वहीं निर्देश “पतला करो।” पुनः मासखमण, फिर से निवेदन, गुरु का वही निर्देश। अन्ततोगत्वा जो पतला नहीं हो पाया था। उसने अपना रंग दिखाया। उसने अपना वार किया “और कितना पतला करूँ ?” कहते हुए उसने अंगुली मोड़ी तो वह सूखी टहनी की तरह टूट गई। क्योंकि मांस, रक्त, सूख गया था तथा हड्डी को भी खुराक नहीं मिली थी तो वह भी सूख गई थी। शरीर की रचना ही ऐसी है। विज्ञान अलग ढंग से कहता है, पर सिद्धांत के अनुसार सात धातुएँ होती हैं। वे प्रबल हो तो हड्डियाँ मजबूत होती हैं। रसायन पूरा न मिले तो शरीर शिथिल हो जाता है। शिष्य ने अंगुली तोड़ दी। कहने लगा “क्या पतला करूँ ? आपने तो कह दिया पतला करो, पतला करो।” गुरु ने कहा - “वत्स! जिसे पतला करना था उसे तो किया ही नहीं। तुम शरीर को पतला करते चले गए। इसको सूखा कर पतला करने से संथारा सिद्ध नहीं होगा। न ही मुक्ति ही हो सकेगी। पतला करना है तो राग-द्वेष को पतला करो।” कहा भी है- “राग द्वेष को पतला करो, तो पहुँचो निर्वाण।” इतनी सुन्दर बात कितने संक्षेप में कह दी गई है। आप इसी कड़ी को लय से गाते हो, पर वह लय कितनी देर की होती है। यहाँ से निकले नहीं, थोड़ा सा कुछ हुआ नहीं कि लय टूट जाती है। फिर राग-द्वेष के ही मेंढक उछलने लगते हैं। उछलते हैं या नहीं ? बातें सुनने में अच्छी लगती हैं पर जीवन में उतर जाए तो आनंद से सराबोर हो जाएंगे। उस आनंद की तुलना में धन-वैभव का आनंद कुछ भी नहीं है। यह वैभव तो अभी है, कल कपूर की तरह उड़ जायेगा। यदि अकषाय-जीवन जी लिया तो उससे प्राप्त होने वाला आनंद कभी उड़ नहीं सकता। वह तो आपकी निधि आपकी थाती बन जायेगा। अतः हम सिद्धांतों को ऊपरी तौर पर पढ़ें या रटें ही नहीं, उनसे जीवन को परिमार्जित भी करते चलें तो जीवन को धन्य बना पायेंगे। उस दशा में हम बोल पायेंगे **‘पा ले मनवा शांत समीर।।’**



## मैली न हो मन की चदरिया

**बंधुओं!** यदि हम चाहते हैं कि शांति हमारे भीतर प्रकट हो तो उसको प्रकट करने के लिए पहले उसके स्वरूप को जानना होगा, क्योंकि यदि हम किसी को पहचानते ही नहीं हैं, तो बिना पहचाने उससे संपर्क कैसे स्थापित कर सकेंगे, उसे कैसे पुकारेंगे ? सोहनलाल जी को यदि आप जानते हों और कोई काम हो तो आप नाम लेकर पुकार लेंगे। यदि परिचय ही नहीं है तो कैसे पुकारोगे ? परिचय कैसे करेंगे ? इसके लिए पहले स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। यदि ज्ञान हो गया तो कहीं पर भी उसे ढूँढ लेंगे। यदि किसी व्यक्ति को आप जानते हैं और यदि वह हजारों के बीच भी बैठा हो तो भी आप उसे खोज लेंगे। पर नाम से और चेहरे से नहीं जानते और वहाँ चले गये, जहाँ वह मौजूद है, पर पहचान नहीं है तो उससे मिलना नहीं हो सकेगा। इस कारण कवि कह रहा है- भगवन्! मैं यह जानूँ कैसे कि शांति का स्वरूप कैसा है? **शांति स्वरूप केम जाणिये.....।**

कैसे जानूँ ? उत्तर में भगवान ने कहा “मन की परीक्षा होनी चाहिए।” मन एक परत है। आपने ग्लास देखा होगा, ग्लास भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। एक ग्लास दर्पण जैसा बिम्बदर्शी होता है। जो उसके सामने आ जाये उसके रूप को वह अपने में दिखा देता है। एक ग्लास पारदर्शी होता है, जो उसके भीतर होता है उसे दिखाता है जैसे शो-केस का ग्लास जो अन्दर रखी हुई वस्तुओं को बाहर से दिखा देता है, अंदर की चीजें बाहर प्रतिभासित हो जाती हैं। वैसे ही हमारा मन है। यदि

वह ठीक है तो भीतर की अवस्थाओं का प्रतिभास, बोध हमें हो जाएगा, और यदि मन की परत ही ठीक नहीं है तो जैसे सीमेन्ट का प्लास्टर दीवार के दूसरी ओर क्या है, यह हमें मालूम नहीं होने देता, दीवार के भीतर या पीछे क्या हो रहा है यह हमें ज्ञान नहीं हो पाता। क्योंकि दीवार पारदर्शी नहीं होती, वैसे ही मन की अवस्थाओं का ज्ञान हमें नहीं हो पायेगा। यदि वह दीवार ग्लास की हो तो हम भीतर की अवस्था को जान सकते हैं। वैसे ही मन की परत ट्रांसपेरेन्ट हो जाये तो भीतर के भाव देख पायेंगे। भीतर कषाय है या शांति है, उसे जान लेंगे। क्योंकि भीतर शांति भी है, अशांति भी है, पर उसको जाने बिना उसके स्वरूप को व्यक्त नहीं किया जा सकता।

एक व्यक्ति हनुमान मंदिर में रोज जाता था। वहाँ घी का दीपक करता था। क्यों करता था ? कई लोग करते होंगे, बिना कारण नहीं करते होंगे। कोई न कोई कारण होता होगा। अन्य कोई कारण न भी हो तो परम्परा भी एक कारण हो सकती है। परम्परा चलती होगी। परम्परा के कारण कई बार व्यक्ति को यह मालूम नहीं होता कि वह घी का दीपक क्यों जला रहा है। वह ऐसा मानता है कि उसके पिताजी करते थे इसलिए वह भी कर रहा है। दीपावली में लक्ष्मी पूजन कर रहे हो और बिल्ली आ गई तो समझ लिया, बस अब तो तिजोरी भर जाएगी। हो सकता है किसी जमाने में काली बिल्ली आ गई हो और संयोग से लक्ष्मी भी तृप्तिमान हो गई हों, तो बिल्ली के आने को कारण मान लिया कि उसके आने से लक्ष्मीजी आ गई। वह परम्परा चल पड़ी और आज तक चल रही है, पर हमें बोध नहीं है कि परम्परा चली कहाँ से। जो चल पड़ी, वह चल पड़ी। उसका निर्वाह होता रहता है। किन्तु कई अवस्थाएँ हम स्वयं प्रारंभ करते हैं। यदि कुछ विशेष हमारे जीवन में भी घटित हो जाय। उदाहरणार्थ आप किसी संत के पास गये, संत ने मंत्र दे दिया। उसके जाप की विधि भी दे दी। आपने उसका जाप किया आपकी मनोवांछा पूर्ण हो गई। कामना पूर्ण होने पर क्या होगा ? भले ही स्थिति के अनुकूल होने के कारण मनोकामना पूर्ण हो गई पर चूँकि मंत्र प्राप्ति का संदर्भ जुड़ गया

था, परिणामस्वरूप हमने मान लिया कि गुरु मंत्र से मेरी मनौती पूर्ण हो गई। तो उनके प्रति जिन्होंने मंत्र दिया था लगाव हो जाना स्वाभाविक है। वैसे ही उस भक्त ने हनुमान जी की बोलमा की थी। कारण यह था कि उस पर किसी ने कोर्ट में केस दायर कर दिया था, तो उसने बोलमा की थी कि यदि मैं केस जीत जाऊंगा तो रोज दीपक जलाऊंगा। संयोग ऐसा बना कि वह जीत गया इसलिए रोज दीपक करता था। एक दिन किसी संत-पुरुष ने उससे पूछ लिया- “तुम रोज घी का दीपक कर रहे हो क्या कारण है ? वैसे तो तुम बड़े कंजूस हो रोटी भी घी-चुपड़ी नहीं खाते पर मंदिर में रोज घी का दीपक जलाते हो ? आप कहेंगे संत को कैसे मालूम कि वह रोटी लूखी खाता है, संत गोचरी जाते हैं तो उन्हें मालूम होता है कि किस घर का व्यवहार कैसा है। उस भक्त ने कहा, गुरुदेव ! दुनिया में इज्जत-आबरू बचाना हो तो सम्पत्ति चाहिए, बिना सम्पत्ति कदर नहीं होती। पैसा होता है तो पांच लोग पूछते हैं। पैसा न हो तो कोई आदमी कितना भी सभ्य हो पर उस पर निगाह नहीं पड़ती। घर में भले घी नहीं खाऊं, पर हनुमान जी को तो प्रतिदिन घी का दीपक जलाना आवश्यक है। क्यों आवश्यक है ? क्योंकि मैंने ऐसी बोलमा की थी, की मैं केस जीत गया तो रोज दीपक जलाऊंगा। तीन वर्ष हो गए हैं, प्रतिदिन लगाता हूँ। संत ने पूछा केस कैसा था ? उसने कहा गुरुदेव - “आपसे क्या छिपाऊँ, आप संत हो, दूसरे से तो नहीं कह सकता था, पर संत के सामने झूठ नहीं बोल सकता। मैंने एक गरीब की जमीन दबा ली थी। उसने केस दायर कर दिया। अब यदि समाज के सामने यह प्रकट हो जाता कि जमीन मैंने दबाई है तो मेरी इज्जत के कांकरे हो जाते, भारी अपमान हो जाता। लोग कहते इतना बड़ा सेठ और गरीब की जमीन दबा ली। जिससे मेरी प्रतिष्ठा को धक्का लगता। इसलिए मैंने बोलमा की। संत ने कहा बोलमा ही की; और कुछ नहीं किया ? तब उसने कहा- मैंने एक वकील किया, अच्छी फीस दी, उसकी पहुँच थी। फलस्वरूप फैसला मेरे पक्ष में हो गया। तब से मैं दीपक जला रहा हूँ।

बंधुओं! वह तो दीपक जला रहा था पर उसकी आने वाली पीढ़ी

भी उसी प्रकार दीपक जलाते रहे तो कोई आश्चर्य की बात होनी नहीं चाहिए। सेठ के दीपक जलाने का कारण व उसकी भावी पीढ़ी द्वारा जलाये जाने का कारण भिन्न-भिन्न होगा, सेठ घटना से प्रभावित होकर कर रहा था, जबकि उसकी पीढ़ी परम्परा समझ करेगी। सेठ के दीपक जलाने का कारण आप जान गये। सेठ के कृत्य पर आप विचार करें कि सेठ ने झूठे केस को जीतने की बोलमा की थी, केस जीत भी गया, दीपक भी करने लगा, यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या हनुमान जी उसके झूठे केस को जितायेंगे ? यह असत्य है। यदि ऐसे हनुमानजी जीताने लगे तो क्या अनर्थ नहीं हो जाएगा ? साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी खड़ा होता है कि उसे यदि हनुमानजी की बोलमा पर भरोसा था तो वकील क्यों किया ? पर होता प्रायः ऐसा ही है। यदि हम भी अपने मन की परत को देख पायें तो हम जान पायेंगे कि हमने कैसे-कैसे कारनामे कर रखे हैं। जिन्हें हमने अपने मन की परतों में दबा रखा है। उन्हें प्रकट करने में घबराते हैं कि कहीं हमारी पॉजीशन डाऊन न हो जाय। फिर चाहते हैं कि शांति मिल जाये। अशांति के कितने कार्य किये ? कितने गरीबों की सम्पत्ति दबाई और आज गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। पर क्या ये गुलछर्रे सदा उड़ते रहेंगे ? कहा जाता है - **गरीब को मत सता, गरीब रो देगा, उसकी आह तुझे जड़ मूल से नष्ट कर देगी।**

लेकिन इस बात को मानता कौन है ? कभी देखा होगा एक समय का करोड़पति रोडपति भी बन जाता है और रोडपति करोड़पति बन जाता है। आप लोगों ने सुना और जाना होगा कि गरीबों को सताने वाले उस समय के जागीरदारों का अन्त किस रूप में हुआ। इतना जानते-सुनते हुए भी थोड़े से लोभ का संवरण नहीं कर पाने के कारण अशांति को मोल ले लेते हैं। बंधुओं ! विचार करने की आवश्यकता है कि हम शांति प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु हमारे भीतर ऐसी अवस्थाएं तो नहीं कुल-बुला रही हैं, जिससे हम ऐसे अमानवीय, अशोभनीय कार्य कर लेते हैं। पर ये कार्य अंदर चोट पहुंचाते रहते हैं। टाइप के बटन देखे होंगे, बटन सामने लगे होते हैं। उन्हें दबाया जाता है, पर वे अक्षर उठकर चोट

कहाँ करते हैं ? रोलर के कागज पर। दबाया यहाँ, चोट वहाँ। वैसे ही हमें ज्ञात नहीं हो रहा है कि हम बटन कहाँ दबा रहे हैं और चोट कहाँ होने वाली है, लेकिन हमारे भीतर जागृत मस्तिष्क चोट को पहचानता है। जिससे उस व्यक्ति का मनोबल कमजोर होता चला जाता है। परिणामस्वरूप उसका विल पावर स्ट्रॉंग नहीं रह पाता। इस कारण वह घबराता है। उसे भय रहता है कि उसकी बात कहीं प्रकट न हो जाय। यदि प्रकट हो गई, तो उसका अपमान होगा। उसकी पोजीशन सुरक्षित नहीं रह पाएगी। पोजीशन को रखने के लिए अच्छे काम करने चाहिए। वैसे तो वह करता नहीं और चाहता है पोजीशन बनी रहे। यही डुपलीकेसी उसकी अशांति का कारण बन जाती है। अशांति किसने उत्पन्न की ? बटन हम स्वयं दबा रहे हैं। उसी से प्रिन्ट हो रहा है। पर प्रिन्ट को पढ़ना नहीं जानते कि क्या प्रिन्ट हो रहा है। यह ज्ञात करने के लिए ही मन की परीक्षा करने की सलाह दी जा रही है।

परीक्षा करोगे तब पता चलेगा कि मन में क्या-क्या लिखा है। पर मन को पढ़ें कैसे ? मन सादे कागज पर साफ-साफ अक्षरों में लिखा जैसा तो नहीं है। उस पर बार-बार लिखे जाने से वह अपठनीय बन गया है। जैसे बच्चे को प्रारंभ में 'अ', 'आ' घोटते हैं। पहले तो स्लेट होती थी उस पर घोटते जाते और मिटाते जाते थे। पर आज नोटबुक में सिखाते-घोटते हैं। एक बार उस पर लिख देते हैं फिर उससे कहते हैं, इसके ऊपर बार-बार लिखो। पुनः-पुनः लिखने से वह इतना घनीभूत बन जाता है कि उसे पढ़ पाना कठिन हो जाता है। जैसे एक कागज पर एक बार, दो बार, पांच बार, दस बार लिख दिया जाय, फिर उसे पढ़ना चाहे तो क्या पढ़ पायेंगे ? नहीं पढ़ पायेंगे। इसी प्रकार हम मन की परत पर परतदार संस्कार छोड़ते चले जाते हैं। वे संस्कार चित्तवृत्तियों के रूप में घनीभूत हो जाते हैं। जिससे हम उन संस्कारों को देख-पढ़ नहीं पाते। देख, पढ़ नहीं पाते इस कारण भीतर की उन परतों का निरीक्षण-परीक्षण भी कर नहीं पाते। परीक्षण न कर पाने से शांति का स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। शांति का स्वरूप प्रकट करना है, तो अपने मन की परत को

पढ़ो। उस संत ने उस सेठ से कहा- हनुमान मंदिर में तो तीन वर्ष हो गये दीपक लगाते पर मन का दीपक जलाया या नहीं ? किससे पूछें ? कौन जलाये ? मंदिर में जाकर दीपक जलाना आसान है स्थानक में आकर धर्म-क्रिया करना सरल है, पर मन का दीपक जलाना दुःसाध्य है। उसके लिए फुर्सत नहीं है। उसके लिए उस प्रकार का मनोबल भी नहीं है। ऐसी स्थिति में वह दीपक जले कैसे ?

कल में कषाय के विषय में कह गया था। क्रोध को देखो, देखोगे तो भाग जाएगा। उसी प्रकार संस्कारों को बारीकी से देखने के लिए निगाह डालें। नजर डालेंगे तो धीरे-धीरे संस्कार जावेंगे और पूर्व का स्मरण करते-करते हमें ज्ञात हो जायेगा कि हमने क्या लिखा था। भगवान ने आलोचना की विधि बताई है- पहले के जो दुष्कृत्य हैं, उनकी यथाक्रम से आलोचना करो। यह नहीं कि पहले शाम की कर ली, फिर सुबह की कर ली। विधि यह है कि जिस क्रम से जो क्रिया घटित हुई, उस क्रम से उसकी आलोचना हो। यह कब होगा जब निगाहें बनी रहेंगी, नहीं तो ज्ञात ही नहीं हो पाएगा कि क्या कब किया था। बहुत सा कार्य करते हुए हम अन्य मनस्कता की दशा में चले जाते हैं। ज्ञात ही नहीं हो पाता कि हम क्या कर रहे हैं। महाराज ने कह दिया- 'सामायिक करनी चाहिए, दया करनी चाहिए' इसलिए कर रहे हैं। मैंने एक दिन दया की बात कही थी। सामायिक की भी बात कुछ तो मैंने रखी थी किन्तु पूरी रख नहीं पाया था। सामायिक में बैठे हैं तो सामायिक का ही भाव रहना चाहिए अन्य भाव नहीं आने चाहिए। वैसे ही यदि हर क्रिया को करते हुए सतत् जागरूक रहेंगे तो ज्ञात होगा कि किस समय मैंने कौन-कौन सी क्रिया की थी। अन्यथा कब क्या करते चले गये, पता ही नहीं रह पायेगा।

आज मनो-चिकित्सकों का मानना है कि व्यक्ति जो सोचता है उसमें से पन्द्रह प्रतिशत ही कार्य रूप में परिणत कर पाता है। पिच्छासी प्रतिशत तो उसका व्यर्थ चला जाता है। जितना कार्य रूप में परिणत होता है, स्मृति में वह सारा रहना कठिन है और तो क्या चार दिन पूर्व का

भोजन भी याद नहीं रह पाता। सुबह-शाम का तो कदाचित याद रह जाय, उसमें भी यदि पूछ ले कि आज सुबह तुमने चाय पी, तब पहले चाय की घूँट ली थी या बिस्किट खाया था ? बीच में बिस्किट खाया तो बिस्किट के बाद चाय की कितनी चुस्कियाँ लीं। अपने मकान की ऊपरी मंजिल ले जाने वाली सीढ़ी जिस पर आप डेली अप-डाऊन (चढ़ना-उतरना) करते हैं, उसमें कितने पगथियाँ हैं ? गिने हुए हैं तो बात अलग है अन्यथा रोज गुजरते हैं किन्तु पता नहीं। वैसे ही हमारी चित्त-वृत्ति पर से गुजरने वाले क्रोध, अहंकार, माया, लोभ के भाव नित्य गुजरते हैं पर हमें पता ही नहीं चलता कि कितनी बार गुजरे। पूछ लिया जाय कि कल दिनभर में दूसरों के प्रति बुरे विचार कितनी बार आये तो बता नहीं पायेंगे। अभी अमलनेर के चोपड़ा जी कहने लगे वहाँ 81-85 प्रतिक्रमण हुए। तीन सतियाँ जी थी। फिर भी इतना पुरूषार्थ किया ? 7 वर्ष से लेकर 70 वर्ष तक के व्यक्ति सीखने वाले थे। ये भी तब तक ही याद रहेगा जब तक दूसरी परत न आ जाय। दूसरी परत आ गई तो याद नहीं रहेगा।

जिस समय बालक बचपन में होता है तो माना जाता है कि उसके पूर्व की स्मृति जागृत रहती हैं। वह जो क्रियाएं करता है वे बिना हेतु के नहीं होंगी। अभी वह पालने में झूल रहा है, पर कभी अपनी भृकुटी चढ़ा लेता है तो कभी दोनों मुट्ठियाँ कसने का एक्शन करता है। कभी हँसता है तो कभी तनाव में भी आ जाता है। ऐसा क्यों होता है ? इसलिए कि उसकी पूर्व की स्मृतियाँ उभरती रहती हैं। उनके कारण उसके जो भाव बनते हैं उसके एक्शन शरीर पर आ जाते हैं। जैसे-जैसे उसकी वय बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उसके संस्कार बदलते जाते हैं, पूर्व के संस्कार, पूर्व की स्मृतियाँ क्षीण होती जाती हैं, नये संस्कार जुड़ते जाते हैं जिससे वे पूर्व की स्मृतियाँ सुषुप्त मन की परतों में चली जाती हैं।

हमारे यहां स्वाध्याय के पांच भेद कहे गये हैं - वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म कथा। परावर्तना के लिए जो कहा गया है वह इसलिए कि यदि उस पर दूसरी परत आ गई तो किया कराया



साफ हो जायेगा। कई भाई कहते हैं, पहले जैनशाला में पढ़ते थे तो प्रतिक्रमण, पच्चीस बोल भी याद किये थे। अब कहाँ चढ़ा दिये ? सारा व्यापार में चढ़ा दिया। याद तो किया पर कालान्तर में बार-बार परावर्तना-चितारना नहीं की जिससे लुप्त हो गया। वैसे ही मन की परतों में ढेर सारे संस्कार हैं जिन्हें हम पढ़ नहीं पाते। क्योंकि उनके ऊपर इतनी परतें, परत पर परत आ जाती हैं कि फिर वे अस्पष्ट हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि वे अपठनीय यानी कठिनाई से पढ़ी जाने वाली बन जाती हैं। भीतर रहे वे कषाय के भाव जब-जब जागृत होते हैं तब-तब सारी परतों में हलचल मचा देते हैं। जैसे आपकी जो जाजम बिछी हुई है, आप लोग बैठे हैं। इतने में कोई आततायी आ जाय, जिसके हाथ बारूद भरी या खाली रिवॉल्वर भी हो, पर उसका एक्शन कुछ इस प्रकार हो कि लगे यह कुछ भी गड़बड़ कर सकता है। उस समय जाजम पर बैठने वालों में हलचल होगी या नहीं ? जैसे यहाँ हलचल हो जायेगी। वैसे ही हमारी मन की परतों को वे कषाय/संस्कार हिला देते हैं। हल चल पैदा कर देते हैं।

विचार कीजिये हमारे अधिकांश संस्कार जो जमे हैं, वे कैसे हैं ? उनमें कितने बुरे हैं, कितने अच्छे हैं ? 24 घंटे में भलाई के काम कितने किये और बुराई के कितने करते हैं। यदि गणित लगाई जाय तो हमारे ज्यादातर संस्कार बुरे कार्यों के, विषय-वासना के पोषण के और अशुभ भावों के होते हैं। बहुत कम संस्कार आत्म-परक होते हैं। जरा सोचिये कि यदि बहुत बड़ा गटर हो उसमें 10-20 बाल्टी पानी डाल भी दिया तो क्या होगा ? थोड़ी देर के लिए वह पानी निथर कर ऊपर आ सकता है पर कुछ समय पश्चात वह साफ पानी भी गंदा हो जायेगा। भीतर का गटर साफ करना है, तो संवर का स्वरूप समझना होगा। पहले आने वाले आश्रव को रोका जाय फिर भीतर की सफाई करो। सफाई करने के बाद सही संस्कार आ जाएंगे, तभी आप शांति का अनुभव कर पाएंगे।

भगवती सूत्र में त्याग, प्रत्याख्यान करने की विधि का निर्देश मिलता है। विधि यह है कि अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान में संवर और भविष्य का प्रत्याख्यान करें। अतीत का प्रतिक्रमण करने का तात्पर्य

परत को साफ करना है। कभी किसी के खून का टेस्ट करवाने का काम पड़ा क्या ? पुण्यवानी का योग हो तो नहीं पड़े यह अच्छा है। पर कर्मों का योग कुछ विपरीत हो तो 15 दिन में, महिने में भी टेस्ट कराने का काम पड़ जाता है। उसमें अलग-अलग प्रकार की जाँच होती है। एक कांच की स्लाइड परत पर खून की कुछ बूंदें डालकर पसार दी जाती हैं। वह खून जब सूख जाता है, तब उसकी जाँच होती है, अब यदि दूसरी बार भी उस स्लाइड पर रक्त लेकर जाँच करें तो क्या सही जाँच हो पाएगी ? ऐसे ही जिस स्लाइड पर एक व्यक्ति का रक्त पहले ले लिया गया है, उसी पर दूसरे का भी सेम्पल ले लें, तो क्या जाँच सही हो पायेगी? नहीं होगी। पहले उस स्लाइड को पानी में उबालकर साफ करना पड़ेगा। उस पर जर्म्स नहीं रहने चाहिए। यदि जर्म्स रह गये तो, उसी पर दूसरी बार भी रक्त ले लें तो जांच ठीक नहीं होगी। वैसे ही मन की परत को अतीत का प्रतिक्रमण कर 'स्टेरलाइज्ड' कर लें ताकि वहाँ पुराने जर्म्स ही न रहे। माइक्रोस्कोप से देखें तो मालूम पड़ जायेगा अन्यथा पहले पर दूसरा, दूसरे पर तीसरा रक्त सेम्पल ले लिया तो सारा रापट-रोला हो जायेगा। निर्णय ही नहीं हो पायेगा। इसलिए कहा गया है -

पहले अतीत का प्रतिक्रमण करो, पहले कचरा साफ करने का प्रयत्न करो। उसके पश्चात आने वाले कचरे को रोको। यदि द्वार बंद नहीं है तो कचरा भरता चला जायेगा। फिर सफाई होगी कैसे ? वर्तमान का संवर करके, भविष्य का प्रत्याख्यान करो। इस त्रिपुटी से प्रत्याख्यान करने चाहिए। प्रतिक्रमण के 6ठें आवश्यक में प्रत्याख्यान करते हैं। प्रत्याख्यान करने के पश्चात पाठ बोलते हैं। गये काल का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवर और भविष्य का प्रत्याख्यान इसमें कोई पाप-दोष लगा हो तो मिच्छामि दुक्कडं। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि यह एक विधि-सूत्र है। पहले का यदि प्रतिक्रमण नहीं किया है और प्रत्याख्यान कर लिया तो प्रत्याख्यान का सही रूप नहीं बन पायेगा। ऐसे में प्रत्याख्यान कर भी लिया तो भूत काल के पाप दोष उछलते रहेंगे, जिससे शांति मिल नहीं पाएगी। शांति नहीं मिल पाने का एक कारण यह भी है कि हमने

आर्तभावों से मन को अत्यंत जीर्ण कर दिया है। आर्तभाव से शरीर की शक्ति क्षीण होना हम सबके अनुभव का विषय है। आर्तभाव से जैसे शरीर की शक्ति क्षीण होती है, इससे भी बढ़कर मन की शक्ति क्षीण हो जाती है तथा क्षीण शक्ति वाला मन शांति को झेल नहीं पाता। भगवान ने श्री आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा है -

### ‘अट्टे लोए परिजुण्णे दुसंबोहे अविजाणए।’

आर्त भाव की बार-बार चोट से मन परिजीर्ण हो गया तो फिर दुसंबोहे-बोध सुलभ नहीं होगा, शांति प्राप्त नहीं होगी। क्यों नहीं होगी ? क्योंकि मन जीर्ण हो गया है। वह उसे झेल नहीं पाएगा। थाम नहीं पाएगा। इसलिए उसका परिमार्जन किया जाय।

एक व्यक्ति डॉक्टर के पास गया। डॉक्टर ने एक डोज दवा दी, उसे लगा मैं ठीक हो गया। उस एक डोज दवा का असर 6 घण्टे रहता है फिर वापस बुरा आ जाता है, क्योंकि जर्म्स अन्दर मौजूद रह जाते हैं। मेटासीन बुरा आ का इलाज नहीं है। सामायिक मेटासीन की तरह है। इसका असर खत्म हो जाता है। समभाव का असर खत्म हुआ तो वापस संसार की तपन उद्वेलित करने लगती है क्योंकि जर्म्स मौजूद रह जाते हैं। मान लीजिये एलोपैथिक उपचार ले रहे हैं तो वह प्रणाली एंटीबायोटिक देकर जर्म्स को दबा देगी पर उससे कोशिकाओं की इतनी क्षति हो जाती है कि कोशिकाएँ मृत-प्रायः हो जाती हैं। उस स्थिति में यदि रोग का पुनः आक्रमण होगा तो वे उस आक्रमण को झेल नहीं पायेंगी। उदाहरण के रूप में जैसे बी. पी. (उच्च रक्तचाप) के मरीज को जो दवा दी जाती है, वह दवा कुछ वर्षों के बाद अप्रभावित बन जाती है। फिर डॉक्टर को दवा बदलनी पड़ती है क्योंकि कोशिकाएँ उस दवा की आदी बन गई होती हैं। अब रोग से लड़ पाने की उनकी क्षमता क्षीण हो गई होती है, जिससे हाई डोज देना पड़ जाता है। किन्तु वह भी उन कोशिकाओं को क्षत-विक्षत करने वाला होता है। किन्तु आयुर्वेद आत्मा के साथ जुड़ी हुई प्रक्रिया है। वे वमन, विरेचन और प्रस्वेदन इन तीन विधियों से व्यक्ति की शुद्धि करते हैं। यदि पेट में मल है तो विरेचन से, यदि चेस्ट में है तो वमन से

और माँसपेशियों में है तो प्रस्वन्दन से शुद्ध करते हैं। इनके लिए ऐसी दवा देते हैं कि भीतर की बीमारी बाहर निकल जाये। तीन प्रकार से शोधन होता है। शोधन हो जाता है फिर ऐसी दवा खिलाने देते हैं कि उन कोशिकाओं को बल मिले और साथ में पथ्य परहेज भी करवाया जाता है क्योंकि अभी शरीर की वह परत हर प्रकार के आहार को झेल पाने योग्य बनी नहीं होती है। धीरे-धीरे वह मजबूत हो जाती है तब फिर पहले जिस रोगी को घी के लिए मना कर रहे थे, उसे वे घी भी खिलाने देते हैं। वैसे ही हम शोधन करते हुए धीरे-धीरे बढ़े तो मन सशक्त हो जायेगा, जिससे उसका बोध पाने की क्षमता जागृत हो जायेगी, परिणामस्वरूप शांति भी प्रकट हो सकेगी।

पूज्य गुरुदेव फरमाते थे - एक घासलेट का पीपा हो, अभी उसमें घासलेट नहीं है, निकाल दिया गया है, पर उसकी गंध मौजूद है, उस स्थिति में यदि उसमें शुद्ध घी भर दिया जाय तो वह पीपा घी को दुर्गन्धयुक्त कर देगा। घी तो अच्छा है पर पीपे की सफाई नहीं की गई, उसी में घी डाल दिया गया, तो वह गंध उसे वासित कर देगी। घी में भी बदबू आने लगेगी। यदि शांति के स्वरूप को प्राप्त करना है तो भगवान कहते हैं - अतीत के संस्कारों का प्रतिक्रमण, शुद्धिकरण करो। शुद्धिकरण कर लिया तो मन अपने आप में हल्का हो जायेगा। एक कपड़ा जिसे घी, तेल के व्यापारी ने पहन रखा हो, उसे 15 दिन तक धोया नहीं जाय तो वह कितना भारी हो जायेगा ? यदि उसे सोड़ा, कास्टिक डालकर गर्म पानी में उबाल कर धो डालें, तो वही कपड़ा एकदम हल्का लगेगा। जो मैल से भारी हो गया था, वह चिकनाहट हटने से हल्का हो जायेगा। वैसे ही मन की परत के जर्म्स को अलग कर दें तो मन में अत्यंत हल्कापन लगेगा। वही हल्कापन जीवन में शांति देने वाला बनेगा। शांति और कहाँ है ? हमने शांति पर इतना मैल चढ़ा लिया है कि उसका स्वरूप हमारे से ओझल हो गया है। उन संस्कारों को धो डालो। वे संस्कार, वह मैल वहाँ से हट जायेगा तो जो बचेगा वह 'शांति' होगी।

दूध में पानी मिला हुआ है। आपने उबाला। उबालते-उबालते सारा पानी जला दिया, तो जो बचेगा वह होगा शुद्ध मावा। मक्खन को तपायेंगे तो छाछ जल जायेगी, शुद्ध घी रह जायेगा। वैसे ही अशांति को जला-जलाकर समाप्त कर दिया तो मावा व शुद्ध घी की तरह मन समाधिस्थ हो जायेगा। फिर वहाँ अशांति की गंध भी शेष नहीं रहेगी।

बंधुओं ! मैं एक बात आप से पूछ लूँ। आप शाम को जीमने वाले हैं, तय है कि आप शाम को भोजन करेंगे। वैसी स्थिति में क्या सुबह की भरी हुई (जूठी) थाली को यह सोच कर रख देते हैं कि बार-बार इतनी राख लगेगी, पानी लगेगा, समय लगेगा, तो क्यों न इसे यूँ ही रहने दूँ इसी थाली में शाम को जीम लूँगा ? शायद आप ऐसा नहीं करते होंगे। थाली को तो आप उसी समय मांज लेते हैं। यदि शाम को रख भी दें तो सुबह नौकर आयेगा, तब मांज देगा पर उसी थाली में जो रात की जूठी है, सुबह भोजन नहीं करते। कितना अच्छा हो कि हम अपनी मन रूपी थाली को उसी प्रकार से साफ करते रहें तो मन मैला होगा ही नहीं। 'मैली न हो मन की चदरिया' इसके लिए हमारा प्रयास सतत् बना रहे। मन की चदरिया स्वच्छ रहेगी तो आत्म-शांति निश्चित रूप से सुलभ होगी।



## मन को बनाएं शोधक यंत्र

### शांति जिन एक मुझ विनती.....।

बंधुओं, शान्ति के संबंध में हमने बहुत-सी भ्रांतियाँ पाल रखी हैं, हम समझते हैं कि शान्ति अप्राप्य है और मात्र ऐसी काल्पनिक आदर्श स्थिति है, जिसका गुणगान ग्रंथों की महिमा बढ़ाने के लिये किया जाता है, परन्तु मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि शांति अप्राप्य नहीं है शांति आदर्श मात्र नहीं है और न ही केवल ग्रंथों की शोभा रूप है। शान्ति यथार्थ है, शांति को अधिगत किया जा सकता है। अनंत-अनंत आत्माओं ने उसे प्राप्त किया है और स्वयं में प्रकट किया है। अतः यह मानकर चलना चाहिए कि शांति को प्राप्त करने के उपाय हैं। जिनसे शांति प्राप्त की जा सकती है। हाँ यह अवश्य है कि शांति का प्रकटीकरण भीतर से होता है, बाहर से नहीं। बाहर ही बाहर ढूँढते रहेंगे तो वह अलभ्य रहेगी। उसे कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। आज तक उसे प्राप्त नहीं होने का कारण यही है कि हम उसे बाहर ही बाहर ढूँढते रहे हैं। यदि उसे भीतर से प्रकट करने का प्रयत्न किया जाए तो उसे पाना, प्रकट करना असंभव नहीं है। दुःसाध्य अवश्य है, उसे प्रकट करने के लिए कवि आनन्दधनजी ने उपाय भी निरूपित किया है-

**भाव अविशुद्ध - सुविशुद्ध जें, कहया जिनवर देव रे.....।**

**ते तेम अवितत्थ सहदे, प्रथम ए शांति पद सेव रे.....।**

जो भाव जिस रूप में है, उसे उसी रूप में ग्रहण करना चाहिये। भाव का अर्थ पदार्थ भी होता है और भाव के रूप में आत्मा के भावों को भी ग्रहण किया जाता है जो औदायिकादि के भेद से पाँच प्रकार का है।

सन्निपातिक रूप से एक छठा भेद भी माना गया है। इनमें से कुछ भाव शुद्ध हैं, कुछ अविशुद्ध हैं एवं कुछ सुविशुद्ध हैं। यह विषय कुछ जटिल अवश्य है, पर इतना जटिल भी नहीं कि जो समझ में आये ही नहीं इसे थोड़ा स्पष्ट कर देना उचित है।

व्यक्ति अपने दुःख को दूसरे पर थोपने का प्रयत्न करता है, कि अमुक मुझे कष्ट दे रहा है, दुःख दे रहा है अथवा अमुक ने यह कह दिया। ये सारी अवस्थाएं भावों से जुड़ी हुई हैं। आवश्यकता है भावों को सही ढंग से समझने की कि कौन से भाव औदायिक है, कौन से क्षयोपक्षामिक-क्षायिक भाव हैं और उनके पीछे कारण क्या है ?

बाहर से हम कह देते हैं- अमुक ने यह कह दिया, ऐसा व्यवहार किया, किन्तु निश्चित रूप से हमारा उपादान क्या कर रहा है? यदि हमारा उपादान निश्चित रूप से उसके लिए तैयार नहीं है तो बाहर की कोई अवस्था हमारे लिए दुःख पैदा नहीं कर सकती। हमारे भीतर जो दुःख पैदा होता है या प्रकट होता है उसके लिए उपादान हम स्वयं हैं। इस प्रकार संदर्भ में कारणों को समझ लें जो दो प्रकार के होते हैं।

### (1) उपादान (2) निमित्त

उपादान वह है जो स्वयं कार्य रूप में परिणत हो जाता है, जैसे मिट्टी घड़े के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

निमित्त उसे कहा जाता है, जो कार्य के निर्माण में सहयोगी होता है। किन्तु कार्य के निर्मित होने पर उससे अलग हो जाता है जैसे- कुम्हार। जो घड़ा बनाने वाला है, वह स्वयं घड़े के रूप में नहीं बदलता। पर जिससे घड़ा बनता है, वह उस रूप में परिणत हो जाता है, जैसे मिट्टी। एक बनता है। दूसरा बनाता है। बनने में और बनाने में जो अन्तर है, वही अन्तर उपादान और निमित्त में है। उपादान बनता है और निमित्त बनाता है। मिट्टी, बनने वाला कारण है और कुम्हार, बनाने वाला कारण। कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाकर अलग हो जाता है। मिट्टी अलग नहीं हो सकती। वह घड़े का उपादान है और कुम्हार निमित्त कारण है। हम निमित्त को देखते हैं और कह देते हैं- कुम्हार ने घड़ा बनाया, पर यदि

मिट्टी न होती तो उसकी क्या शक्ति थी कि वह घड़ा बना देता। वह यदि घड़ा बनाने वाला है तो रेत लाकर बना दे घड़ा, पर क्या बन जायेगा रेत से घड़ा ? जिस मिट्टी में घड़ा बनने की क्षमता है, स्वभाव है, उसका घड़ा ही बन सकता है अन्यथा घड़ा बन ही नहीं सकता चाहे हजारों कुम्हार इकट्ठा हो जाये। वैसे ही कर्म उदय में आये हैं उन कर्मों का योग है- उपादान। कुम्हार कोई मिल गया किन्तु वह उपादान सुख-दुःख रूप में ही परिवर्तित हुए हैं। उसी से हम सुख-दुःख का वेदन करते हैं। उसमें सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला निमित्त कोई भी हो सकता है।

नमिराजर्षि के लिए चूड़ियों की आवाज का होना और रूकना, प्रतिबोध का कारण बन गया। आवाज शांत हुई तो चिंतन बना। जहाँ बहुत होते हैं वहाँ झंझट होता है। अकेला भांड क्या भड़-भड़ायेगा ? अकेला बर्तन बजता नहीं है और दो चार बर्तन आसपास रखे हैं तो वे टकराते हैं। इस बिन्दु को लेकर उनकी आत्मा में जागरण हो गया। उन चूड़ियों की खनखननाहट में या एक-एक कंगन रख शेष को उतार देने में साधु बनाने की क्षमता नहीं है। यदि हो तो बहनें प्रयोग करके देख लें। कितने भाइयों की भावना जागृत होगी ? भरत राजर्षि आदर्श भवन में दर्पण के सामने खड़े थे, वही केवली बन गए। दर्पण, अंगूठी का गिरना, ये बाह्य निमित्त थे पर मूल उपादान भीतर का क्षायिक भाव था। यदि क्षायिक भाव बना नहीं होता तो केवली-सर्वज्ञ बनना संभव नहीं था।

मगध सम्राट श्रेणिक के पूछने पर भगवान ने उससे कहा- एक नवकारसी कर लो, नरक टल जावेगी और कथाओं में बतलाया गया है कि उनकी दासी संत दर्शन कर ले, दासी संतों को गोचरी बहरा दे, तो नरक टल जायेगी। श्रेणिक ने कहा- ये मेरे बस की बातें हैं। कपिला दासी से उन्होंने कहा- संत आवे तो आहार बहराना है। संत आ भी गये, पर कपिला ने कहा- मैं साधु को भिक्षा नहीं दूंगी। उससे जबरदस्ती भिक्षा दिलवाई गई। कोई कहता है कि हाथ में चाटू (चम्मच) बांधकर बहराया गया। तब उसने कहा- मैं दान नहीं दे रही हूँ। राजा का चाटू दान दे रहा है। “मूल में राजा का स्वयं का क्षयोपशम नहीं था, तो निमित्त नहीं मिल पाया। उनके स्वयं का औदायिक भाव था, उसके कारण नरक का योग



भोगना ही था। हम भावों पर दृष्टिपात करें तो अशांति को महसूस कर नहीं पायेंगे, क्योंकि अशांति के कारण जब हमने स्वयं बनाये हैं, निर्मित किये हैं तब अब दूसरों को दोष क्यों दें ? हाय विलाप करने मात्र से कारण निवारित नहीं होगा। इस स्थिति में हमें सोचना चाहिये कि हमारे मन में अशांति का चक्र क्यों चलता है, वह दूर क्यों नहीं होता, पर हम इन भावों पर कितना ध्यान देते हैं। यह विचारणीय है। इस संदर्भ में एक दृष्टान्त याद आ रहा है।

एक सेठ जी ने विचार किया कि पूरे नगर को भोजन करवाऊँ। पुराने समय की परम्परा के अनुसार पंचों से इजाजत ली। पूरी न्यात-जमात जीमने आ गई। भोजन बहुत आदर भाव से करवाया। अंत में पापड़ परोसने को स्वयं सेठ जी आगे आये। एक व्यक्ति को पापड़ परोसते हुए पापड़ खण्डित हो गया। उसने गाँठ बांध ली, सबको तो इन्होंने आखा पापड़ परोसा पर मुझे खांडा पापड़। ये क्या समझता है अपने आपको? पूरी न्यात के बीच मेरी इज्जत मिट्टी में मिला दी। कुछ दिन बाद उसने पंचों से कहा - मैं पूरी न्यात को जिमाना चाहता हूँ। पंचों ने समझाया तेरा सामर्थ्य नहीं है तू रहने दे। तेरी भावना है ये अच्छी बात है। उसने अकड़कर कहा - “क्यों मैं क्यों नहीं जिमा सकता?” पंचों ने कहा जैसी तेरी मर्जी। घर गया, गहने बेचे, कुछ गिरवी रखे, जमीन जायजाद बेची। सारी तैयारी कर ली। जीमन शुरू हुआ, वह सेठ भी भोजन करने आया। जिमाने वाला सोचने लगा अब बताऊँगा। पूरे समाज के सामने उसने तो खांडा पापड़ ही परोसा था पर मैं चूरा करके परोसूँगा। ऐसा विचार करते हुए उसने पापड़ का पूरा चूरा करके परोसते हुए वक्रदृष्टि डालते हुए कहा- याद है मुझे आपने खांडा पापड़ परोसा था। सेठ ने विचार किया और कहा - तू वैसे ही मुझे उपालंभ दे देता तो भी बात चल जाती। केवल खांडे पापड़ के लिए तुमने जमीन, जायदाद, आभूषण क्यों बिगाड़े ? पर यह बात सुने कौन ? हम इस दृष्टान्त पर विचार करें। पहले वाले सेठ का ऐसा कोई भाव नहीं था, वह उसे खांडा पापड़ परोसे। पापड़ तो पापड़ ही है। परोसते-परोसते खण्डित हो ही जाता है। किन्तु इस छोटी सी बात को पकड़ लेने से उस दूसरे सेठ को कितनी हानि उठानी

पड़ी, हानि भी उठानी पड़ी और संक्लेशित भी वहीं हुआ। इसका कारण था ? उसके द्वारा गाँठ बांध लेना। ऐसी गाँठे न जाने हम कितनी बांधते चले जाते हैं। वे ही ग्रंथियाँ समय पाकर घनीभूत हो जाती हैं। उनको बाँधते समय पता नहीं चलता, परिणाम आता है, तब हमें दुःखदायी लगता है। जब तक इन गाँठों का बोध नहीं कर लें बल्कि आगे से आगे बांधते रहेंगे तो शांति का स्वरूप उपलब्ध नहीं हो पायेगा।

तीर्थकर देवों ने जिन भावों को जिन रूपों में प्रतिपादित किया है या उनका जो स्वरूप बतलाया है, उस स्वरूप को यथावत समझने वाला शांति के प्रथम सोपान पर चढ़े तो शांति की दिशा में प्रयाण होगा। जो जिस मंजिल को पाना चाहता है उसने यदि उस दिशा में एक कदम भी बढ़ाया तो मंजिल मिल सकती है। मंजिल सुलभ है, कदम ही न बढ़े तो मंजिल मिलना संभव नहीं हो पाएगा। इसलिए उन भावों पर चिन्तन करें और गौर करें।

जिस समय व्यक्ति साता का अनुभव कर रहा होता है, उस समय उसे लगता है कि मुझ से बढ़कर दुनिया में कोई सुखी है ही नहीं। उसी साता का अनुभव करते हुए वह कैसी-कैसी गाँठे बांध लेता है। वह उस समय यह नहीं सोचता कि यह साता है कितने दिन की, यही साता कभी असाता में बदल जायेगी। आज जो सुख है, वही कभी दुःख बन जायेगा। करोड़पति कब रोडपति और रोडपति कब करोड़पति बन जाता है पता ही नहीं चलता। इस संदर्भ में एक रोमांचकारी घटना जो मैंने कहीं पढ़ी थी, सुना देता हूँ।

एक दर्जी की करोड़ रुपये की लॉटरी खुल गई। लॉटरी विक्रेता ने सोचा यदि उसे सीधे ही करोड़ रुपये की लॉटरी लगने की बात बताई तो कहीं हार्ट फेल न हो जाय और उसके लिए मुसीबत खड़ी न हो जाय। विचार में पड़ गया कि उससे कैसे कहे, उसकी दृष्टि गई एक मनोचिकित्सक पर। उसने उससे कहा कि आपको उसे सूचित करना है, आपको लॉटरी में उठी रकम से अमुक परसेन्टेज दिया जायेगा। आप उसे यह बात तरकीब से बता दीजिये। चिकित्सक ने 'हां' भर ली। पहुँच गया दर्जी के घर और बोला अरे भाई ! मजे में तो हो? इसी प्रकार कुछ सामान्य बात

करता हुआ बोला, आजकल ये लॉटरी बहुत उठती है। तुमने भी इसके टिकट ले रखे हैं क्या ? उसने कहा- ले रखी हैं। तब डॉक्टर ने कहा- मान लो, तुम्हारे पांच लाख की लॉटरी उठ जाए तो क्या करोगे ? उसने कहा- ढाई लाख आपको दे दूँगा। डॉक्टर ने कहा- बीस लाख की उठ जाये तो ? उसने कहा- इतना मेरा भाग्य कहाँ जो बीस लाख की लॉटरी उठे। डॉक्टर ने कहा- मान लो, उठ जाए। दर्जी ने कहा - दस लाख आपके। डॉक्टर ने इसी तरह राशि बढ़ाते हुए कहा - मान लो तुम्हारी करोड़ रुपये की लॉटरी खुल जाये तो ? डॉक्टर साहब क्या मान लेने से ही पेट भरता है। पेट खाने से भरता है। इसी प्रकार मान लेने मात्र से लॉटरी खुल नहीं जाती। डॉक्टर ने कहा मान लो, खुल जाये तो ? दर्जी ने कहा- कैसे मान लूं ? पहले खुल तो जाये। डॉक्टर ने कहा मान लो कभी खुल ही जाए तो ? डॉक्टर के ऐसा कहने पर उसने कहा- यदि खुल गई तो पचास लाख तुम्हें दे दूँगा। पचास लाख..... पचास लाख कहते हुए डॉक्टर को दिल का दौरा पड़ गया। वह वहीं तत्काल ढेर हो गया। वह मानसिक संतुलन रख नहीं पाया। गया था दर्जी को समझाने, करोड़ की सूचना देने, क्योंकि मनोचिकित्सक था पर दौरा उसी को पड़ गया। एक करोड़ ने हड़कंप पैदा नहीं की, किन्तु पचास लाख ने हड़कंप मचा दी। क्यों मचा दी ? मुझे मिलेंगे पचास लाख ! उसका मस्तिष्क पर कंट्रोल नहीं रह पाया। दर्जी को तो राशि मिल गई, पर डॉक्टर को क्या मिला ? गया था समझाने को कि कहीं दर्जी को हार्ट अटैक न आ जाए, पर अटैक किसे आ गया ? इससे हम जान सकते हैं कि साता कब असाता में और असाता कब साता में बदल जाती हैं। कहने का आशय है जैसे दर्जी की लॉटरी उठी तो रोड़पति से करोड़पति बन गया, वैसे ही करोड़पति भी रोड़पति बन सकता है। ऐसी अनेक घटनाएं हमारे सामने घटित होती रहती हैं, किन्तु हम तब-तक दिशा बोध नहीं ले पाते, जब तक हमारा उपादान तैयार नहीं हो। निमित्त कितने भी मिलें हम उनका लाभ उठा नहीं पाते। अन्यथा बोध लेने वाला कहीं भी बोध ले सकता है। सेठ धन्नाजी का आख्यान उस संबंध में कितना सटीक है। यह आप स्वयं जान सकते हैं। मूल बिन्दू प्रस्तुत कर रहा हूँ-

सुभद्रा ने कहा- मेरा भाई शालीभद्र दीक्षा लेना चाहता है, वह प्रतिदिन एक-एक भाभी को छोड़ रहा है। धन्नाजी ने कहा- “तेरा भाई कायर है, वैराग्य जग गया फिर एक-एक दिन एक-एक नारी को छोड़ना यह तो अबला रीत है! सत्पुरुषों की यह रीत नहीं है। वे तो एक झटके में त्याग करते हैं” सुभद्रा ने कहा- “नाथ! कहना बहुत आसान है, कर दिखाने वाले पुरुष विरले ही होते हैं।” सुनते ही धन्नाजी दीक्षा लेने को तत्पर हो गये। तत्पर ही नहीं हुए शालीभद्र को साथ ले दीक्षित भी हो गये। क्या देर लगी बोध जगते ? ऐसी घटनाएं घरों में रोज घटती होंगी, किन्तु सारे लोग जाग्रत नहीं हो जाते। सभी को बोध पैदा नहीं हो जाता। बोध उन्हीं का जगता है, जिनका उपादान तैयार होता है। कभी-कभी लोग कहते हैं महाराज, भुरकी डालते हैं तो वैराग्य आ जाता है। महाराज के भुरकी डालने से ही यदि वैराग्य आ जाता तो अब तक वैरागियों की लाइन लग जाती। सचमुच में भुरकी क्या है ? वह किसकी लगती हैं इसे जाने-

**भुरकी तो भगवान री, हलुकर्मी ने लागे।  
अंतस रो वैराग्य हो तो, उभा ही घर त्यागे।।**

धन्ना जी ने तो खड़े-खड़े ही घर त्याग दिया। कहने में तो आज भी बहनें कहती हैं पर लगता कितनों को है? उपादान जाग नहीं पाते, तो निमित्त व्यर्थ हो जाता है स्वामी रामतीर्थ के जीवन का एक प्रसंग है। वे आत्मा-परमात्मा की चर्चा कर रहे थे। एक पंडित ने कहा यह तो शाब्दिक चर्चा है, केवल शब्द क्या कर सकते हैं ? रामतीर्थ ने कहा- “भाई ठीक है, पर शब्द भी अपना महत्व तो रखते ही हैं। उसका भी परिणाम तो होता ही है।” पंडित मानने को तैयार नहीं था। थोड़ी देर बाद उन्होंने पंडित को संबोधित करते हुए कहा - ऐ, उल्लू के पट्टे! क्या बक रहे हो ? इतना सुनते ही पंडित गुस्से में भर गया। वह आग बबूला हो गया, क्योंकि उपादान जागृत हो गया था। परिणाम स्वरूप शांति अशांति में बदल गई। स्वामी रामतीर्थ ने कहा - देख लो, शब्द की क्या शक्ति है।

हम अशांति के लिए भीतर तैयारी रखते हैं। मन की ग्रंथियाँ

अशांति का कारण है। उनको हम बनाते रहते हैं। खांडे पापड़ की ही बात ले, जिस समय परोसा गया था, उस समय सामने तो कुछ नहीं बोला, पर भीतर पकड़ लिया, गांठ बांध ली कि मैं भी बदला लूंगा। ऐसी बदले की भावनाएँ गहरी हो जाय तो वहाँ कौन सा ध्यान बनेगा ? आर्त्त ही नहीं रौद्र ध्यान भी बन जायेगा। वैरानुबंधी वैर के भाव बनेंगे। मेरे साथ ऐसा किया है, मैं भी बदला लूंगा। ऐसे भाव यदि गहरे बन जायें तो व्यक्ति आर्त्तध्यान से रौद्रध्यान में आ जाता है। ये बातें दिखने में छोटी लगती हैं पर इनका परिणाम भयंकर होता है। हम सोचे कि हम ऐसी बातों पर गौर करते हैं या नहीं ? दिन भर में न जाने ऐसी कितनी ही बातों की हम गाँठ बांधते रहते हैं, उस समय हम अपने उपादान पर ध्यान केन्द्रित नहीं करते। वहाँ ध्यान केन्द्रित होने पर दूसरों को दोष देने की जो हमारी प्रवृत्ति है उसमें परिवर्तन हो जायेगा। उस समय यदि कोई कष्ट आ भी जाय तो उसका चिंतन बनेगा कि दोष किसे दूँ, दोष देने से होना क्या है ? ऐसे जो कर्म बांधे हैं तो उदय में आयेंगे ही। दूसरा कौन दुःख-सुख देने वाला है। दूसरों के देने से सुख आता तो मैं अभी तक कभी का सुखी हो गया होता और दूसरों के दुःख देने से दुःख आता तो अब तक जीवन में कभी सुखी हो ही नहीं पाता।

यदि कोई व्यक्ति यह सोचे कि दूसरे दुःख देते हैं तो उसका दुःख बढ़ जाता है। किन्तु यदि सोचे कि मैंने जो किया है वही उदय में आया है, तो दुःख कम पड़ जाता है। उसका कारण यह है कि व्यक्ति विचारों को मोड़ लेता है। स्वयं से गलती हो जाय तो वह इतना दुःखी नहीं होता, पर वही गलती दूसरे से हो जाये तो मन व्यथित हो जाता है। यदि किसी सेठ ने मुनीम को अथवा अपने पुत्र को कहीं व्यापार के लिए भेजा उनसे नुकसान हो जाये तो सेठ के मन में दुःख होगा। सेठ सोचेगा, इसे क्यों भेज दिया ? मैं स्वयं जाता तो नुकसान नहीं होता। कदाचित सामने नहीं बोले पर मन में आ जायेगा। पर यदि स्वयं जाता और काम गलत हो जाता तो क्या भाव बनता यही न कि मैं समझ नहीं पाया। यहाँ जैसे स्वयं में केन्द्रित होने पर, स्वयं से गलती होने से दुःख कम होता है, वैसे ही कर्मोदय के प्रसंग से सोचे कि जो असाता का उदय हो रहा है उसका निमित्त भूत मैं ही हूँ। मैंने जैसा पानी टंकी में भरा है, वैसा ही आयेगा।

यदि गंदा भरा है तो शुद्ध कहाँ से आयेगा? तालाब के गंदे पानी को बिना फिल्टर किये भर दिया तो गंदला ही आयेगा। उसे मालूम है कि मैंने गंदला ही भरा था तो वह दुःखी नहीं होगा। पड़ोसी ने फिल्टर करके भरा तो शुद्ध आयेगा। मैंने शुद्ध भरा नहीं इसलिए शुद्ध पानी आएगा कहाँ से? यदि मैं शुद्ध पानी चाहता हूँ तो उसे मैं फिल्टर कर लूँ। यदि किसी से आपने पानी मंगवाया वह गंदला पानी ले आये, पानी दूसरा हो ही नहीं तब भी आप उस पानी को फिटकरी आदि से फिल्टर करके पीना चाहेंगे। जैसे गंदा पानी मुंह में नहीं डालना चाहेंगे, ठीक इसी तरह किसी ने गाली दे दी, उसे फिल्टर करो, सोचो यह नीचे उतारने लायक है या नहीं? यदि कचरा है तो फिल्टर करिये, उसे अन्दर जाने ही मत दीजिये। फिल्टर मशीन मौजूद रखिये कि आने वाला रजकण प्रविष्ट हो ही नहीं। मशीन उसे भीतर जाने से पहले ही रोक देगी तो फिर उसका परिणाम भी भोगना नहीं पड़ेगा।

बंधुओं ! व्यक्ति जैसे फिल्टर किया हुआ पानी पीना चाहता है, वैसे ही वह जो देखे, सुने, सूंघे, चखें उन सबको फिल्टर करता रहे तो वह अपने को दुःखी होने से बचा सकता है। अधिकांश व्यक्ति दुःख के समय परमात्मा का सुमिरन करते हैं पर दुःख आये ही नहीं, इसके लिए प्रयत्नशील नहीं होते। यदि हमने अपनी क्रियाओं को, अपने विचारों को पहले ही फिल्टर कर लिया होता तो दुःख आता ही क्यों? दुःख से बचना चाहते हैं पर दुःख के कारण स्वयं पैदा करते रहते हैं। कभी-कभी तो लगता है कि शांति से बढ़कर हमें अशांति प्रिय है। इसका सशक्त प्रमाण यही है कि हम वैसे ही कार्य करते रहते हैं। यदि अशांति से बचना चाहे तो अपनी सोच को बदले। उपादान की तथा निमित्त की सम्यक् समीक्षा करें। उसके स्वरूप को समझें। भावों के स्वरूप को जाने। जिससे हम अपनी स्वयं की पहचान कर पायें। अन्त में यही कहना चाहूँगा मन को बनाएं शोधक यंत्र। यदि ऐसा करने में समर्थ हो पाये, तो कोई भी व्यक्ति हमें दुःखी नहीं कर पायेगा। कोई ताकत हम पर हावी नहीं हो पायेगी और हम अपने में ही अपने आनन्द की अनुभूति करते हुए जीवन को धन्य बना पायेंगे।



## भागो मत अपने को बदलो

**कुंथ जिन मनडु किमहीन बांजे....**

**शां**तिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए जब यह संकेत मिला कि मन की परीक्षा करो, मन पर ही सब कुछ निर्भर है। मन साधना का अतिमहत्वपूर्ण अंग है। यदि मन प्राप्त नहीं हो, केवल काया प्राप्त हो तो उस काया की निवासिनी आत्मा साधना ही नहीं कर पायेगी। अनादिकाल से हमें काया तो प्राप्त होती रही है पर केवल काया से कार्य सिद्ध नहीं हो पाता है, वचन भी हमें प्राप्त हुआ है, पर वचन के माध्यम से भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाये हैं। मन को भी हमने पाया तो था, पर मन की परीक्षा हम कर नहीं पाये। हम तो मन के स्वरूप को भी जान नहीं पाये। इस कारण मन की शिकायत बनी रही। इसी बात को कवि ने कुंथुनाथ भगवान की स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा है-

**कुंथु जिन मनडुं किम ही न बाझे हो कुंथु जिन मनडुं किम ही न बाझे  
जिम तिम जतन करी ने राखूं तिम-तिम अलगु भाँजे हो,**

**कुंथु जिन.....।**

जैसे-जैसे मन को खींच कर साधना में लाता हूँ, यह मन पुनः भाग जाता है। मैंने बहुत यत्न किया, अनेक प्रयत्न किये, किन्तु यह ऐसा निर्लज्ज है कि आपके सामने इसकी क्या बात रखूं ?

**रजनी-वासर, बस्ती-उज्जड.....।**

यह न रात देखता है न दिन, न बस्ती देखता है न 'उज्जड' (निर्जन) स्थान। जो कार्य सभ्यता के नाते बस्ती में नहीं करना चाहिये, वह भी यह करवा देता है। कहते हैं चोरी करने वाला रात में निकलता है, किन्तु यह चोरों में चोर डाकुओं का सरदार दिन में भी भागता रहता है और दिन में भी कुछ न कुछ चुरा लाता है। कब किधर जाता है, पता ही नहीं चलता। कभी गगन में तो कभी पाताल में। एक क्षण वहाँ तो दूसरे क्षण यहाँ। इतनी जल्दी दौड़ता है कि वर्तमान युग के साधन भी इतनी जल्दी गति नहीं कर सकते। फोन से बात करने में फिर भी टाइम लगता है, पर यह तो निमेष मात्र में कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। मन की चंचलता से संबंधित एक आख्यान सुनिये।

एक सेठजी के घर एक व्यापारी पहुँचा। सेठ जी की बहू ने कहा- ससुरजी कपड़ा मार्केट गये हैं, दूसरी बार कहा- मोची के यहाँ गये हैं, फिर कहा पंसारी के यहाँ गये हैं। ससुरजी ने बाद में उससे पूछा- तुमने व्यापारी से ऐसा क्यों कहा कि कपड़ा मार्केट, मोचीवाडा व पंसारी के दुकान पर गये हैं? मैं तो सामायिक कर रहा था "सामायिक में थे यह बात भी सही है पर अलग-अलग नयों से चिन्तन करें तो एवं भूतनय कहता है- जिस समय में जो जिस कार्य में संलग्न है, उसी का व्यपदेश करना चाहिए। श्रमण यदि श्रमशील है, उसका मन साधना में लगा है तो उसे निश्चय नय में साधु कहना चाहिए। श्रावक जिस समय श्रावकत्व भूलकर व्यापार में बैठा हो, संसार को असार न मानकर मोह में डूल रहा हो, तो निश्चय नय कहता है - उस समय वह श्रावक नहीं कहा जा सकता। श्रावक तब कहेंगे जब वह शास्त्र सुन रहा हो, विवेक-युक्त हो तथा कर्तव्य पालन करने में तत्पर हो, उस समय वह श्रावक होता है।

नैगमनय के अनुसार किसी भी समय में उसे श्रावक कहा जा सकता है। जो अभी श्रावक नहीं है पर पहले श्रावक था उसे भी और जो अभी श्रावक नहीं है, पर भविष्य में बनेगा, उसे भी नैगमनय श्रावक कहा जाता है।

नैगमनय का वर्णन करते हुए एक आख्यान दिया जाता है-



यदि एक व्यक्ति रथ बनाने के लिए लकड़ी लेने जंगल में जा रहा है। उस कारीगर से किसी ने पूछा कि तुम कहाँ जा रहे हो? उसने कहा-जंगल। पूछा गया किसलिए? उत्तर मिला रथ लेने के लिए। आप कहेंगे- यह बात गलत है। जंगल में रथ कहाँ मिलेगा ? पर नैगमनय उसे भी स्वीकार करता है। उसका उद्देश्य बन गया है रथ का, इसलिए रथ लाने जा रहा है। यद्यपि वह रथ के लिये लकड़ी लेने जा रहा है, पर रथ के लिए ही उसकी सारी क्रिया हो रही है। उस अपेक्षा से नैगमनय उसके कथन को स्वीकार करता है।

नैगमनय की तरह संग्रह, व्यवहारादि अलग-अलग प्रकार से बात को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक का अपना दायरा है। इन नयों के आधार पर तत्त्वों की विचारणा करनी चाहिए। इन नयों को समझे बिना शास्त्रों को कभी कोई शस्त्र भी बना सकता है।

जैसे नयों के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि निक्षेपों के स्वरूप को जानना भी आवश्यक है। नय और निक्षेप के स्वरूप बोध बिना, शास्त्र के हृदय तक नहीं पहुंचा जा सकता। आगमों में कहीं निश्चय से कथन हुआ है और कहीं व्यवहार नय से। नयों का सम्यक् ज्ञान नहीं होने से कभी-कभी हम उलझ जाते हैं। नय दृष्टि जागृत हो तो उलझनों को सुलझाया जा सकता है। वहाँ संदर्भ को ध्यान में रखते हुए निर्णय किया जाता है कि अमुक कथन निश्चय नय से है और अमुक कथन व्यवहार नय से है। यथार्थ में देखे तो दोनों एक दूसरे से अलग नहीं हैं। यदि दोनों को अलग कर दिया तो दोनों का अस्तित्व रह नहीं पायेगा। जैसे सिक्के के दोनों तरफ छाप होती है तभी वह चलता है। एक तरफ छाप हो तो वह नहीं चलता। उसे खोटा माना जाता है। वैसे ही प्रत्येक तत्व को निश्चय व व्यवहार से जान सकते हैं। उनके बिना तत्व विनिश्चय अशक्य है।

द्रव्य का जो ध्रौव्य स्वरूप है, वह निश्चय है। व्यवहार हमारे सामने आता है। आत्मा के पर्यायों का अनुभव हम कर ही रहे हैं। आत्मा के पर्याय क्या हैं ? मनुष्य, तिर्यच, जवानी, बुढ़ापा, बचपन आदि आत्मा

के पर्याय हैं। मकान के माध्यम से मकान-मालिक का ज्ञान होता है और मकान मालिक है तो उससे भी मकान का बोध होता है। बिना मकान के मकान मालिक कैसे बना? इस प्रकार मकान के माध्यम से मकान मालिक तक पहुँच सकते हैं और मालिक से मकान तक। जैसे यह संयोगिक सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा का शरीर के साथ संयोगिक सम्बन्ध है। जैसे द्रव्य और पर्याय एक दूसरे से जुड़े हैं, उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार नय अलग-अलग नहीं है। अलग-अलग रह ही नहीं पायेंगे।

सूर्य की किरणें सूर्य से अलग नहीं हो सकती। चाहे कितने ही बादल हों, सूर्य भले उनकी ओट में चला जाये, पर सूर्य की किरणें सूर्य से अलग नहीं की जा सकती। वैसे ही आत्मा के पर्याय आत्मा से अलग नहीं किये जा सकते। आत्मा का ही नहीं, प्रत्येक द्रव्य की पर्याय द्रव्य से अलग नहीं की जा सकती। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि मनुष्यादि आत्मा के पर्याय हैं तो वे आत्मा से अलग नहीं होनी चाहिए, किन्तु उनके नष्ट होने पर उनका आत्मा से सम्बन्ध कैसे होगा ? इसका समाधान यह है कि पर्याय तो नष्ट होते ही है, परंतु नष्ट होने पर भी उनका कथन उस द्रव्य के आधार पर किया जाता है। जैसे मनुष्य के मृत शरीर को यह मनुष्य की लाश है, ऐसा कथन किया जाता है। यह मकान श्वेत रंग का है। ऐसा जिस मकान के लिए कथन किया जाता है। कालान्तर में रंग बदलने पर यह लाल रंग का था। पीले रंग का मकान है, ऐसा कथन होता है। ये पुद्गल का पर्याय है। प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप, निश्चय व व्यवहार रूप होता है। कभी व्यक्ति भ्रम में आ जाता है कि निश्चय क्या है और व्यवहार क्या है।

कहीं-कहीं ऐसी चर्चा भी सुनने में आती है कि क्या साधु जीवन लेन-देन की चीज है। श्रावक जीवन या सम्यक्त्व क्या दी जा सकती है अथवा ली जा सकती है ? नितान्त दी-ली नहीं जा सकती। पर दी जाती है एवं ली भी जाती है। निश्चय में व्यक्ति का उपादान-क्षयोपशम होता है। व्यवहार में गुरु प्रतिबोध देने वाले होते हैं। प्रतिज्ञा करवाने वाले

होते हैं। गुरु द्वारा दिलाई गई प्रतिज्ञा को एकान्त रूप से व्यवहार नहीं कह सकते। अन्यथा हम जिन साधुओं को वंदन करते हैं। वे सभी संत व्यवहार से ही संत होंगे। प्रश्न उपस्थित होगा श्रमण कि व्यवहार वाले संत द्रव्य से मुनि हैं या भाव से ? यदि वे द्रव्य से श्रमण हैं तो वंदनीय ही नहीं सकते ? यदि वे भाव से साधु हैं तो भाव निश्चय का ही रूप है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरु जो प्रतिज्ञा दिलाते हैं। वह उनके भाव को दृढ़ीभूत बनाता है अथवा उसके भाव को, निश्चय को व्यवहार्य बनाना है। उदाहरण के रूप में जैसे राष्ट्रपति का चुनाव हो गया, पर जब तक उसे शपथ ग्रहण नहीं करवा दी जाती, तब तक वह उस पद का व्यवहारी नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रतिज्ञा आदि ग्रहण किये बिना साधु आदि भी पद के व्यवहारी नहीं हो सकते। यदि ऐसा नहीं होता तो गुरु -शिष्य का सम्बन्ध पूर्णतया निरर्थक सिद्ध होगा।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से चारित्र्य ग्रहण किया था। ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण आगमों में अंकित हैं। भगवान ने चौदह हजार व्यक्तियों को दीक्षा दी, उसी के आधार पर श्रमण ऐसी संज्ञा से व्यवहारी कथनीय बनें।

यदि एकांत रूप से व्रत-प्रत्याख्यान लेने-देने की चीज नहीं होती, तो आनंद श्रावक कैसे कहता-मैंने पांच अणुव्रत सात शिक्षाव्रत ग्रहण किये। यदि उसमें प्रकट हुए होते तो उसे ऐसा कहना चाहिए था कि मेरे में ये प्रकट हुए हैं, फिर मैंने स्वीकार किया, ऐसा वह क्यों कहता है। स्वीकार तो पर-सापेक्ष होता है, उसमें पर-निमित्त बनता है। कोई दूसरा है जो देने वाला है। यदि कोई देने वाला ही न हो तो स्वीकार करने वाला किससे स्वीकार करेगा। किसी के द्वारा दिये जाने पर जो उसे ग्रहण करना है। वही ऐसा कह सकता है। आनंद श्रावक भी यही कहता है कि मैंने भगवान से ग्रहण किया ।

दीपक अभी जला नहीं है, पर जलते दीप की लौ अगर उससे लगा दी तो वह भी जल जाता है अर्थात् जलने की उसमें क्षमता थी। तेल था, बाती थी। यदि ये नहीं होते तो दीपक जल नहीं सकता था। जिसमें

तेल, बाती हो और जलती लौ का निमित्त मिल जाये तो वह जल जायेगा। ऐसा होना निश्चय है या व्यवहार? दोनों ही। वैसे ही उपादान स्वयं का होता है, किन्तु जगाया जाता है निमित्त के माध्यम से कभी कोई कह दे कि दीपक स्वयं जला तो निश्चय में तो वही जला, परन्तु बिना निमित्त के नहीं जला।

आपने यह तो सुना ही होगा कि सम्यक्त्व प्राप्ति के दो कारण हैं-उपदेश और निसर्ग, निसर्ग अर्थात् स्वयं से प्रकट होना। उपदेश का अर्थ है गुरु आदि का प्रबोध। सम्यक्त्व प्रादुर्भूत होने में ये दो निमित्त माने गये हैं। यहां आप यह प्रश्न प्रस्तुत कर सकते हैं कि महाराज! आप स्वयं कहते हैं कि सम्यक्त्व निसर्ग स्वयं से प्राप्त होती है तो सम्यक्त्व लेन-देन की चीज कहाँ रह गई। इसका उत्तर भी आप लें। तेल-बाती युक्त दीपक को यदि रख दिया जाय तो क्या उसमें ज्योति स्वतः आ जायेगी? कितने समय तक प्रयत्न करने पर, एक वर्ष, दो वर्ष, पांच वर्ष या दस साल में वह जल जायेगा? जैसे ऐसा नहीं होता है। उसे जलने में दूसरे दीपक की लौ अथवा वैसे ही किसी अन्य निमित्त की आवश्यकता होती है वैसे ही सम्यक्त्व के पहले पांच लब्धियों की अपेक्षा होती है। पांच लब्धियों में एक देशना लब्धि है। देशना लब्धि उसी भव में हो अथवा पूर्व के भवों में, पर उसका होना अनिवार्य है। जब तक जीव देशना लब्धि को प्राप्त नहीं होता है, तब तक उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। नये-नये श्रोता सोचेंगे यह देशना लब्धि क्या है? देशना अर्थात् उपदेश। जब तक गुरु-मुख से उपदेश नहीं सुनेगा, तब तक जीव को समकित प्राप्त नहीं होगी। यहाँ पर भी प्रबोधित करने वाले 'पर' की अपेक्षा होती ही है।

प्रतिक्रमण के पाठ में बोला जाता है -

**“अरिहंतो मह देवो जावज्जावं सुसाहुणो गुरुणो।  
जिणपणत्तं तत्तं इअ सम्मतं मए गहियं॥”**

इस पाठ में 'मए गहियं' पद बड़ा महत्त्व रखता है। इसका अर्थ है, मेरे द्वारा ग्रहण किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि कोई देने वाला है। पर देने वाला, दूसरा ही है। यदि प्रतिबोध देने-लेने का विषय नहीं होता

तो भगवान महावीर अपने अंतिम क्षणों में गौतम को क्यों फरमाते कि देवशर्मा को प्रतिबोध देने जाओ। अन्य भी अनेक प्रमाण हैं जिन्हें प्रस्तुत किये जा सकते हैं लेकिन अभी उनकी अपेक्षा नहीं लग रही है भगवती सूत्र में गुरु सान्निध्य से श्रवण लाभ होना बताया है। श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान इस तरह अन्त में अक्रिया-मोक्ष लाभ का कथन है जो गुरु के, श्रमण-महान के निमित्त से संभव है।

चार अंगों की दुर्लभता में श्रवण को भी दुर्लभ कहा गया है क्योंकि सुनने पर ही श्रद्धा-विश्वास होता है। सुनना 'पर' सापेक्ष ही होता है। उस दृष्टि से विचार करें तो सुस्पष्ट है कि निश्चित सम्यक्त्व भी दूसरे के द्वारा ही प्रकट हो पाता है, श्रद्धा यानी विश्वास, आत्मा पर विश्वास देव-गुरु-धर्म पर विश्वास, जीवादि तत्वों पर विश्वास, ऐसा विश्वास होने पर ही सम्यक्त्वी बन पाता है। दर्शन शुद्ध न हो, विश्वास न हो तो द्वार पर आया हुआ द्वार के बाहर ही रह जायेगा। भीतर प्रवेश नहीं कर पायेगा।

एक व्यक्ति बारात में गया। उसने सुना मेजमान ने ढेर सारे भोज्य पदार्थ बनाये हैं। अनेक प्रकार की मिठाइयाँ भी बनाई हैं। कचोरी-समोसे आदि नमकीन पदार्थ एवं इटली डोसा आदि मद्रासी भोजन भी बनाया है। उसने सुना पर विश्वास नहीं हुआ क्या इतने ढेर सारे पदार्थ भी कोई बनाता है। आज के युग में विश्वास शायद जल्दी हो जाये क्योंकि विवाह शादियों में अब तो पचास, साठ आइटम्स बनाना तो सामान्य बात हो गई है पर एक जमाने में मिठाई के नाम पर केवल एक चीज लापसी या हलवा बनाई जाती थी। रोटी, चावल, साग आदि कुल मिलाकर आठ-दस आइटम हो जाते तो पर्याप्त माना जाता था। ऐसा ही कोई जमाना रहा होगा, जिसमें उस बाराती को विश्वास नहीं हुआ। जब भोजन करने बैठा और सारे पदार्थ उसके सामने आये तो उसे विश्वास हो गया कि जो कहा गया था, वह सत्य था। फिर जब उसने भोजन किया तो उसे अनुभव हो गया कि किस पदार्थ का स्वाद कैसा था। इस दृष्टान्त को ऐसे, समझें बाराती के समान मनुष्य जन्म है, सुनने के समान

वीतराग वाणी श्रवण है, तत्त्व बोध विश्वास-श्रद्धा है और जब स्वयं पुरुषार्थ किया जाता है तब खाने के समय वह पूर्व अवस्था को अनुभव करने वाला बन जाता है। तब स्वयं ज्ञाता बन जाता है कि सामायिक पौषध से क्या लाभ होता है।

जैसे ऊपर चार अवस्थाओं का कथन किया गया है, वैसी ही हमारी अवस्थाएं हैं। हमने अनेक-अनेक जन्म लिये हैं। हमने कई जन्मों में सुना भी होगा, बहुत बार सुना होगा पर विश्वास नहीं किया। वह विषय हमारी अनुभूति में नहीं आया, विश्वास नहीं हुआ तो आचरण कैसे हो पाता ? कई बार विश्वास भी हुआ होगा पर आचरण नहीं हो पाया होगा, जैसे सब चीजे पड़ी हैं उन्हें देख लेने से उन पर विश्वास भी बहुत है, पर डायबिटीज की बीमारी है, तो मिठाई खा नहीं पाता। नमकीन भी बहुत अच्छी है, पर रक्तचाप (B.P ) हो तो क्या खा सकता है ? खाने का मन तो बहुत होता है, पर खा लिया तो डायबिटीज न जाने कितनी बढ़ जाएगी ? ब्लडप्रेसर हाई हो गया तो मुश्किल हो जाएगी, इस डर से खा नहीं पाता। जैसे ही कर्म की बीमारी सताती है। बीच-बीच में भावना तो आती है कि मैं भी साधु बन जाऊँ, “काई पडयो है संसार में,” पर थोड़ी ही देर में वह भाव शांत हो जाता है, क्योंकि विचार आ जाता है, नहीं अभी तो बेटे-पोतों की शादी करनी है, पोते को दुकान करानी है आदि। यदि ऐसे ही विचार आते हैं तो भले दया करके बैठें या साधु बन जाए, मन उसमें रम पायेगा, यह कहना कठिन है, क्योंकि मन की दशा विचित्र है, वह कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है, पता ही नहीं चलता।

वैदिक संस्कृति में विश्वामित्र ऋषि का वर्णन प्राप्त होता है। उन्होंने लम्बी तपस्या की किन्तु मेनका के हाव-भावों से मन विचलित हो गया। उसी भव में मोक्ष जाने वाले चरम शरीरी रथनेमि एकान्त गुफा में ध्यान कर रहे थे, राजमती को देखा तो मन विचलित हो गया। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि मुनि बन गये, पर बेटे के बारे में सुना, तो मन उसमें अटक गया। ये मन की उड़ाने हैं। कविता में किये गये चित्रण के संबंध में हम कभी कह सकते हैं कि ये तो कवि की कल्पना है। कल्पना कवि की हो सकती है किन्तु उन्होंने भगवान की वाणी छोड़कर बात नहीं कही

है। शास्त्रों का पुट उनकी कल्पना में विद्यमान है।

**कुंथु जिन मनडुं किम ही न बांझे हो .....**

**जिम जिम जतन करी ने रांखू .....**

“जतन करी ने रांखू” के पीछे बहुत बड़ा संदेश है। संदेश यह है कि मन पर विजय प्राप्त करने के बजाय मन को यत्न से रखो। वह बार-बार भाग जाता है। यह ठीक है पर मन को यत्न से रखते कहाँ है। शरीर का यत्न करते हैं मन का नहीं। बाहुबली जी ने मन का यत्न नहीं किया था। उन्होंने शरीर अडिग बनाया। छोटे भाइयों को वंदन कैसे करूं, यह मन का अजतन था। उसके कारण शरीर रूका रह गया। काव्य कल्पना से लताएँ चढ़ गईं तन पर। चढ़ गईं तो चढ़ गईं, पर केवल्य पाना है तो सब सहना होता है, इसलिए शरीर में कोई हलन-चलन नहीं थी पर मन में हलचल थी या नहीं ? केवल काया की हलचल को कितना ही रोक लें काम नहीं सरेगा ?

भगवान ऋषभदेव देख रहे थे, बाहुबली के हाल को, कि वह लगाम कसते जा रहा है, बाहर से दिख नहीं रहा है, पर मन में हलचल है। केशीश्रमण ने भी मन के विषय में पूछा था गौतम स्वामी से। कौन से घोड़े पर बैठे हो ? कैसे उसे वश में करते हो ? बंधुओं गौतम ही नहीं बैठे थे, उस घोड़े पर हम भी बैठे हैं ? सामायिक और घोड़े पर ? साधु और घोड़े पर ? हाँ सामायिक हो तो क्या, साधु बन गये तो क्या, मन रूपी घोड़े पर तो सवारी की हुई है।

वही मन जब अहंकार के वश में हो जाता है तो हाथी का रूप ले लेता है। बाहुबली जी को इस हस्ती पर से अर्थात् उत्कर्ष के भाव से हटाने के लिए प्रतिबोध देने बाह्ली व सुंदरी वहाँ पहुँची। कवि की भाषा में उन्होंने कहा- **“वीरा महारा गज थाकी उतरो।”** बाह्ली सुन्दरी ने अपनी भाषा में कहा था, पर कवि ने अपनी कविता में रंग भर दिया। हे भाई ! गज से उतरो। बाहुबली जी सोच में पड़ गये। हाथी! मैं तो कभी से हाथी, घोड़ों का त्याग कर चुका हूँ। यदि कोई साधु कह दे की आप घोड़े पर बैठे हो तो रोष तो नहीं आयेगा ? कैसे श्रावक हो हमें कहते हो घोड़े पर बैठे

हो! दिखता है या नहीं? एक तरफ केशी श्रमण गौतम स्वामी से कह रहे हैं। वे केशी श्रमण कितने ज्ञान के स्वामी थे जिनसे कह रहे हैं, वे गौतम स्वामी भी कितने ज्ञान के धणी थे। ज्ञानी को ज्ञानी कह रहे थे। रहस्य क्या है ऐसा सुनकर क्या गौतम तमक पड़े, कि आपने मुझे ऐसा कैसे कह दिया। क्या उनके साधुओं ने गुस्सा किया कि हमारे गुरुजी को ऐसा कैसे कहा ? इस प्रकार न गौतम ने कहा और न ही उनके साधुओं ने, बल्कि गौतम स्वामी कहते हैं मैं उस घोड़े को लगाम से अपने बस में रखता हूँ। “गौतम स्वामी का यह उत्तर हमें यह प्रेरणा देता है कि लगाम दूसरों को दे दी तो जीवन को खतरा है। दूसरों पर अत्यंत विश्वास हो तब भी लगाम अपने हाथ में ही होनी चाहिए। तैमूरलंग को हाथी पर बिठाया, तब उसने कहा इसकी लगाम कहाँ है ? जब उसे बताया गया हाथी के लगाम नहीं होती, तब वह हाथी से उत्तर गया और उसने कहा- जिसकी लगाम अपने हाथ में नहीं मुझे ऐसी सवारी नहीं करनी। हाथ में लगाम हो और सही तरीके से चलाना जानता होता तो कितना ही उद्दण्ड घोड़ा हो। उसे आप वश में कर पाएंगे। लगाम हाथ में होने का यह अर्थ नहीं कि मैं लगाम कसता रहूँगा तो मन वश में रह जायेगा। बाहुबली जी की लगाम तो कसी हुई थी, पर मन का कोई कोना हलचल में था। अतः कोई सोचे कि जैसे-जैसे लगाम कसता हूँ वह भागता ही जा रहा है क्यों? इसका उत्तर है कि जब-तक मन की परीक्षा नहीं होगी पर लगाम कसते जाएंगे तो वह वश में नहीं होगा।

सुना है कई वक्र गति के घोड़े होते हैं। उनकी लगाम कसे तो और तेज दौड़ते हैं। ओर ढीली छोड़ दें तो रूक जाते हैं। घोड़ा वक्र गति का है या सीधी गति का, उसकी चाल का पता नहीं लगाया और लगाम खींच दी तो लगाम खींचने मात्र से वह वश में नहीं आ जायेगा। पहले परीक्षा कर लो घोड़ा वक्र गति का है या ऋजुगति का। लगाम कसने से वह कैसे चलता है? उसके बाद ही लगाम कसनी है या ढील देनी है, यह निर्णय करना उचित होता है। अन्यथा ड्राइवर ड्राइविंग सीट पर तो बैठ जाय, स्कूटर पर तो बैठ जाय पर जाने कुछ भी नहीं गैयर और ब्रेक का



भी ज्ञान नहीं, हो तो क्या होगा? विचार किया जा सकता है।

गुरुदेव का राणावास चातुर्मास था, उस समय एक भाई दर्शनार्थ आया। उसने बताया कि अमुक व्यक्ति नई गाड़ी लेकर आया, गाड़ी फुल स्पीड पर चला रहा था, कंट्रोल कर नहीं पाया, गाड़ी उछली और गड्ढे में जा गिरी। वैसे ही यह घोड़ा कभी-कभी स्पीड पकड़ ले तो उस समय यदि कंट्रोल करने का तरीका ज्ञात नहीं हो तो उछल जाता है। इसलिए परीक्षा करो, यह चलता कैसे है। उसकी चाल का ज्ञान कर लिया तो वश में कर पायेंगे।

आपके यहाँ स्कूल में लोग कहने लगे, यह घड़ी 1 घण्टा 20 मिनट आगे चलती है यदि उसे कोई चलाना नहीं जाने, नीचे के पॉईंट से ठीक नहीं करे तो काम गड़बड़ हो जायेगा। कभी चौबीस घण्टे का काम तेइस घण्टे में ही पूरा हो जायेगा, कभी चौबीस के स्थान पर छब्बीस घण्टे भी लग जायेंगे। यदि चलाना जान लो तो ऐसी गड़बड़ सहसा नहीं होगी। घड़ी चलाने की तकनीक को लेकर कोई सोच ले कि रोज-रोज की झंझट कौन ले, लगा दो सेल की घड़ी और छुट्टी। यह जरूरी नहीं है कि सेल लगाने पर छुट्टी हो जाय, वहाँ भी खतरा है। यदि झंझट से घबरा कर कुछ का कुछ करने लगे तो एक दिन मुँहपत्ति को भी झंझट समझ लेंगे। सोच लेंगे क्या जरूरत है इसकी ? इसी तरह सामायिक में कपड़े बदलने के झंझट भी कौन करे। झंझट से भागने की कोशिश करेंगे तो हम पुरुषार्थी बन ही नहीं पायेंगे। मैं कई बार कहता हूँ कि कोई परिवार या समाज की झंझट से भागकर साधु बने तो वह साधु बन कर क्या कर पायेगा? भगोड़ा क्या कर सकेगा ? इसलिए भागो मत, अपने को बदलो, अपने आप को परिवर्तित करो। झंझट के कारण यदि कोई साधु बना है तो आज उसने जिसे स्वीकार किया है, कल उसे भी झंझट समझकर उससे भाग खड़ा होगा। यहाँ भी कोई न कोई सुनाने वाला मिल ही जायेगा। भागने वाला कहीं नहीं टिक सकता? साधु बनना है तो वैराग्य से साधु बनो। साधु नहीं बन सकते तो मत बनो। भगोड़ा यदि साधु बन भी गया तो वह साधुता का स्तर ही गिरायेगा। इसलिए भागने

के बजाय स्वयं को बदलने का प्रयत्न करना चाहिए। पोशाक बदलने से पहले विचार बदलने का प्रयास होना चाहिये। विचार परिवर्तन होने पर ही जीवन का आनंद पाया जा सकता है।

### पाना नहीं, जीवन को बदलना है साधना.....।

क्या है साधना ? हम भागने की कोशिश करते हैं या बदलने की ? हम तो चाहते हैं कि धर्म स्थान में जायें तो वहाँ कुछ मिल जाये पर दृष्टि बदली नहीं तो क्या मिलेगा ? हम कैसे बदलें ? कैसे मन की परीक्षा करें, कैसे मन की लगाम खींचें ? ऐसी जिज्ञासाएं यदि हैं तो धर्म-स्थान में आकर कुछ कर सकेंगे। अन्यथा आशा लेकर भले ही आये ही पर स्वयं का पुरुषार्थ जगा नहीं पाये तो कुछ भी प्राप्त होना कठिन है।

एक चोर के पीछे पुलिस पड़ गई, पीछे पड़ी तो वह भागा क्योंकि जीवन सभी को प्रिय है। चाहे चोर हो या डकैत। दूसरों को मारते समय इन्हें विचार नहीं आता किन्तु जब स्वयं पर मौत आती है तो विचार होता है कैसे बचूँ ? उस समय भी बोध हो जाए कि मैंने जिन लोगों को मारा है, उन्हें कैसी पीड़ा हुई होगी तो भी कुछ बात बने, लेकिन बोध जागता कहाँ है। जब तक ऐसा बोध जागे नहीं। तब तक सुधार भी हो नहीं सकता। ठोकर लगे तभी सुधार होता है।

बंगाली भाषा में एक कहावत है - 'ठेकला बुद्धि काज दे' मारवाड़ में भी कहावत है - 'ठोकर लगे तो अकल आवे' इस कारण लडक्रे को दूसरों के पास रखते हैं कि ठोकर लगेगी तो होशियार हो जावेगा। ठोकर लगेगी तो बुद्धि काम करने लगती है।

आपने सुना होगा रोहिण्य चोर और वाल्मीकि से संबंधित वृत्तान्त। कितने कुख्यात चोर थे, अंगुलिमाल कैसा खूंखार था, लोगों को मारकर उनकी अंगुलियों की माला पहनता था। यह भी उसका शौक था। इससे वह गौरवान्वित महसूस करता था कि मैंने कितनी अंगुलियों की माला पहन ली। एक बार महात्मा बुद्ध उधर से निकल रहे थे। उसने महात्मा बुद्ध से कहा 'रूक जाओ'। बुद्ध ने कहा 'मैं तो रूका हुआ हूँ,

तू रूक जा। चल तो तू रहा है' कौन चल रहा था? महात्मा बुद्ध या अंगुलिमाल ? आप और हम भी तो चल नहीं रहे हैं ? यहाँ बैठे अवश्य हैं। बड़ी तेज गति से चल रहे हैं। अपनी गति को हम स्वयं पकड़ नहीं पा रहे हैं। क्योंकि हमारी इस गाड़ी में मीटर ही नहीं है, जो यह बतला दे कि रफ्तार कितनी है ? मन के मीटर की गति बहुत है या बाहर के मीटर की ? गति मालूम न हो तो गाड़ी अंधाधुंध दौड़ती है, भले एक्सीडेंट हो जाए क्योंकि ब्रेक लगाना तो जानते ही नहीं । ब्रेक कहाँ है? गियर कहाँ है ? मालूम नहीं तो गाड़ी सही चलेगी कैसे? जहाँ चढ़ाई आये तो क्या करना पड़ता है? गियर बदलना पड़ता है और वहाँ ब्रेक लगाकर छोड़ दें तो गाड़ी नीचे खिसक जायेगी। वैसे ही सामने से कोई गाड़ी आ रही हो। गाड़ी ढाल में है और गियर लगा दें तो क्या होगा? इसलिए सुरक्षित रहने के लिए बैठने से पहले गियर और ब्रेक को देखें, इसी प्रकार स्वयं के मन की अवस्थाओं का चिंतन करें तो आत्मा शांति को वर पाएगी। मन को जाने नहीं और नट-बोल्ट -स्कू से कसते चले गये तो ठीक नहीं होगा।

एक काल्पनिक दृष्टांत लें- एक चोर ने देखा कि उसके पीछे पुलिस पड़ी है, क्या करूँ? एक जीर्ण शीर्ण खण्डहर जैसे मंदिर में घुस गया और देवी से कहने लगा “माता मुझे बचा ले।” देवी को दया आ गई। बोली वत्स” ! मैं बचा सकती हूँ पर तू ऐसा कर इस द्वार की आगल (कुण्डी) को लगा दे। चोर ने कहा है- मैं तो इतना घबरा रहा हूँ कि द्वार तक भी नहीं जा सकता’। देवी ने कहा- “अच्छा ऐसा कर द्वार बंद नहीं कर सकता है तो मेरी मूर्ति के पीछे जाकर छुप जा”। उसने कहा - मैं तो उठ ही नहीं सकता, मूर्ति के पीछे कैसे जाऊँ ? अच्छा, तो ऐसा कर “मा हण मा हण” ऐसा बोल “वह बोला, मेरे मुँह से तो ऐसा भी नहीं निकल सकता।”

तब देवी ने कड़कते हुए कहा- जा भाग यहाँ से। जब तू जरा सा पुरुषार्थ भी करना नहीं चाहता तो मैं भी सहयोग नहीं कर सकती। इससे स्पष्ट है कि सहयोग उसी को मिलता है जो कुछ करने की तमन्ना

लिये हुए हो, अन्यथा सहयोग का भी दुरूपयोग होगा। हम भी सोचे कुछ करने की स्थिति में हैं या नहीं? यदि हैं, तो सहयोग मिल सकता है परन्तु कुछ करना ही न चाहें तो फिर सहयोग की अपेक्षा ही नहीं करे।

बंधुओं! गुरु हमें बोध दे सकते हैं। हमें मिठाई का स्वरूप बता सकते हैं। इस पर विश्वास पैदा करने का पूरा प्रयत्न कर सकते हैं। पर हम विश्वास करके उसका भोग करेंगे तभी मिठाई का भरपूर आनंद उठा पायेंगे।

अब जब आप मिठाई के पास ही गये हो तो देख-देख कर ही मत रह जाना। कोई भोजन करने के लिये आये और सोने-चाँदी के थाल में मिठाइयाँ पड़ी देख उन्हें देखता ही रहे तो आस-पास वाले कहेंगे, कभी घर में इसने मिठाई देखी ही नहीं होगी। वही हालत हमारी भी हो जायेगी। देखने मात्र से मिठाई का स्वाद नहीं आयेगा और न ही पेट भरेगा। यह आप स्वयं जानते हैं इसलिए हम चखे, मुंह तक लाकर रूके नहीं।

डायनिंग टेबल पर सजे थालों की तरह साधु की संगत में आये हो तो कुछ न कुछ लेकर उठना। कहते हैं- गाय का पोठा गिरता है तो रेत लेकर उठता है- वैसे ही संतों के पास आये हो तो कुछ न कुछ प्राप्त करने का लक्ष्य रखे। थोड़ा भी ले लिया तो जीवन मंगलमय दिशा में बढ़ पायेगा।



## नायक हो सम्यक् निर्णायक

**कुंथु जिन मनडुं किम ही न बाँझें.....।**

साधना के क्षणों में जब साधक अपने मन की विचित्र स्थितियों पर विचार करता है तब वह अनुभव करता है कि दिन हो या रात, बस्ती हो या उजाड़, आकाश हो या पाताल, मन सदा गमन करता रहता है। इस विचारणा के बीच साधक की जिज्ञासा होती है कि इस प्रकार इधर-उधर भटकने से, गमन करने से, इस मन को मिलता क्या है ? पदार्थों का स्वाद तो इन्द्रियों को मिलता है, मन तो यों का यों ही रह जाता है। फिर यह भटकता क्यों है ?

कहा जाता है कि सांप किसी को काटता है, पर जिसे काटता हैं उसके रक्त का स्वाद सांप को नहीं आता। काट तो लेता है पर मुँह खाली का खाली रह जाता है। यही दशा मन की है यह विषयों की तरफ दौड़ता अवश्य है पर उसे मिलता कुछ भी नहीं, केवल दूर से ही विषयों को ग्रहण कर पाता है, जिससे मन को कुछ मिल नहीं पाता। स्वाद इन्द्रियों को मिलता है, ये बात अलग है, इन्द्रियों के माध्यम से मन अनुभूति कर ले, कहीं से कहीं उड़ान भर ले, पर उससे उसकी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति के अभाव में उसका भटकना बना रहता है। ऐसे भटकने वाले मन को ज्ञानी अपने ज्ञान-बल से निग्रहीत कर लेते हैं, अर्थात् उसकी भटकन को रोक देते हैं। ऐसे ज्ञानियों में एक नाम आचार्य श्री चौथमल जी म.सा. का भी है।

आचार्य श्री चौथमल जी म.सा. के विषय में आप सुन चुके हैं। आज उनका आचार्य पद दिवस है। यह एक महत्वपूर्ण प्रसंग है, क्योंकि आचार्य आचार-प्रधान हुआ करते हैं या यूँ कहना चाहिए कि उन्हें आचार-प्रधान होना चाहिए। यदि नहीं होंगे तो आचार की परम्परा टिक नहीं पाएगी। इसलिए उनका आचार-प्रधान होना अनिवार्य होता है। यास्क के अनुसार - **आचार ब्रह्मति आचिनोति बुद्धिमिति वा सः आचार्यः** - जो आचार को ग्रहण करावे, यथार्थ ज्ञान को ग्रहण करावे, वह आचार्य है।

आचार के पांच भेद कहे गये हैं :-

### **ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार।**

आचार्य से अपेक्षा की जाती है कि वह इन पाँच आचारों की स्वयं पालना करे और दूसरों से भी करवाये। यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि दूसरों से आचार पालन करवाने का डंडा उनके हाथ में क्यों ? साधना के क्षेत्र में इस डंडे की क्या आवश्यकता है? ये आचार तो आत्म सापेक्ष होने चाहिए। किसी के द्वारा प्रेरित करके करवाये जायें तो थोपने जैसी बात होगी। थोपा गया कार्य आत्मीय भाव से संभव नहीं होता। जिस पर थोपा जाता है वह उसे भार मानकर चलता है। ऐसी स्थिति में क्या ज्ञानाचार आदि का सम्यक् पालन हो सकता है ? यदि सम्यक् प्रकारेण पालन नहीं हों तो क्या उसे आत्मिक शान्ति मिल सकती है ? यदि नहीं तो ऐसी पालना करना व करवाना क्लेशकारी सिद्ध होगा, जो आध्यात्मिक क्षेत्र में हितप्रद नहीं हो सकता।

अधिकांश प्रश्न यथार्थ बोध की अनभिज्ञता से पैदा होते हैं। उपर्युक्त प्रश्न भी उसी कोटि में आता है। इस संबंध में वस्तु-स्वरूप को स्पष्ट करना उपयुक्त होने से प्रस्तुत कर रहा हूँ-

आपने आगमों के माध्यम से सुना होगा, वहाँ पाठ आया है-

**सुय मे आउसं तेणं.....।**

सुधर्मा स्वामी ने जंबु स्वामी से कहा- हे आयुष्यमान्। इस

प्रकार से मधुर वचनों द्वारा शिष्य का दिल आह्लादित होता है। आह्लाद पूर्वक ही ज्ञान-दर्शन चारित्र की आराधना सम्यक् प्रकार से हो पाती है। शिष्य को भी लगे कि ये हमारे जीवन के अंग है। यदि बलात् करवाया जाएगा तो भार ढोने जैसी स्थिति बन सकती है। वैसी स्थिति नहीं बने इसलिए आचार्य मधुर वचनों से उसे प्रेरित करते हैं। इसके विपरीत यदि कोई साधक संयम-विपरीत आचरण करे, उसे देख कर यदि कोई यह सोचे कि हम क्यों बुरे बने, हमें अपनी आत्मा को देखना है, जो जैसा करेगा वो वैसा ही भरेगा, मुझे कुछ नहीं कहना। ऐसी बात संघबद्ध व्यवस्था में उचित नहीं है।

बंधुओं! यहाँ संघ का तात्पर्य भी समझ लें। संघ का तात्पर्य है समूह। एक व्यक्ति संघ नहीं होता। अनेक व्यक्ति जिसमें सम्मिलित हो वह संघ होता है। इसका यह अर्थ मत ले लेना कि बहुत से लोग मिल गये तो बन गया संघ। समूह तो चोर, डकैतों का भी होता है। आदिवासी भी समूह रूप में ही मिलते हैं। मनुष्य की बात ही क्या, पशु-पक्षी में भी एकता-सामूहिकता होती है। गली का एक कुत्ता भौंकता है तो सारे इकट्ठे हो जाते हैं। वैसे वे स्वयं भले लड़ें पर एक भौंकेगा तो दूसरे साथ में हो जाएंगे। एक कौआ कांव-कांव करेगा तो दूसरे भी कांव-कांव करके इकट्ठा हो जायेंगे। उनका भी समूह है।

संघ से तात्पर्य है -गुणी-पात्रों का समूह। ऐसे व्यक्तियों से संघ बनता है। ऐसे संघ की महिमा नन्दीसूत्र में, तीर्थंकर देवों ने, शास्त्रकारों ने गाई है। गुणी पात्रों के समूह से संघ बनता है। वे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की आराधना में तत्पर होते हैं। यदि इनमें से किसी का उपयोग उस में नहीं रह पाया हो तो उधर उनका उपयोग कैसे बनाया जाए, यह सुनिश्चित करना आचार्य का दायित्व होता है। चौथा आचार है- तप। इच्छाओं पर निरोध तप है। उपवासादि से आत्मा को भावित करना तप है। स्वाध्याय, वैयावृत्य में स्वयं की यथायोग्य संयोजना तप है। तप के ताप से आत्मा निखर कर कुंदन बन जाती है। इसकी सम्यक प्रेरणा देते हुए सम्यक् नियोजन करना तपाचार है। तपाचार के बाद वीर्याचार कथन

है। वीर्याचार का अर्थ है- शक्ति का प्रयोग। साधक के भीतर जो शक्ति है उस शक्ति का अनुभव करते हुए उस-उस साधक को तद्-तद् अनुरूप कार्यों में संयोजित करना। ग्लान आदि की वैयावृत्य के संदर्भ से कहा गया है, आचार्य चाहे तो ग्लान की सेवा करे या न करे। वे न करें तो वे आचार च्युत नहीं होते, पर साधु यदि सेवा के प्रसंग पर जी चुराये, उससे बचना चाहे तो वह आचार से स्खलित होता है, उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। उसे सेवा धर्म में उद्यत होना चाहिए। आचार्य के लिए सेवा करना भले ही आवश्यक नहीं है परंतु वृद्ध-रूग्णादि संतों के लिए सेवा की व्यवस्था को बनाये रखना यह उनका दायित्व है। यथा प्रसंग वे स्वयं उसमें तत्पर होते हैं, क्योंकि संघ के प्रति उनका आत्मीय भाव है इसलिये वे यह नहीं सोचते कि मैं सेवा नहीं करूँ, वे स्वयं जुट पड़ते हैं।

आपने आचार्य श्री नाना लाल ली म.सा. से संबंधित संस्मरण सुना होगा कि कोई शिष्य बीमार हो गया तो, वे स्वयं की बीमारी भूलकर उसकी सेवा में जुट जाते। प्रसंग था जयपुर का। श्री रवीन्द्रमुनि जी ने लगभग 65 वर्ष की वय में दीक्षा ली थी। नये-नये थे, सभी ने आग्रह किया तो कुछ अधिक खाने में आ गया होगा। रात में दस्त व वमन होने लगी। गुरुदेव ने मुनि को संभाला। परठने का काम भी स्वयं ने किया, कपड़े बदलवाये। इतने में संतों की भी नींद खुल गई तो देखा गुरुदेव स्वयं सेवा में संलग्न हैं। संतों ने कहा “आपने हमें क्यों नहीं उठाया ? गुरुदेव ने कहा तुम तो करते ही हो मुझे यह मौका कब मिलता ?”

आचार्य श्री चौथमल जी म.सा. भी अपने आप में एक निराले संत थे। उन्होंने संघ में आचार निष्ठा का जो संदेश, दिया वह वस्तुतः स्तुत्य हैं।

एक सुगंधित पल्लवित, पुष्पित-वृक्ष अनेकों के लिये आधार बनता है। अनेक उसकी छाया से संतोष प्राप्त करते हैं। चंदन का एक वृक्ष जंगल को सुवासित कर देता है। इससे विपरीत एक सूखे वृक्ष में लगी आग, पूरे जंगल को भस्म करने वाली होती है। इस संदर्भ में नीतिकारों



ने कहा है कि एक पुत्र कुल का गौरव बढ़ाने वाला होता है और एक कपूत कुल को कलंकित करने वाला भी होता है।

आचार्य श्री चौथमल जी म.सा. ने धोका परिवार में जन्म लिया था और दृढ़ता से संयम जीवन स्वीकार कर सिंह के समान पालन किया था। पिछली वय में शरीर शिथिल हो गया। उनके तन पर भी उसका प्रभाव पड़ा। तन शिथिल हो सकता है पर उन्होंने मन को शिथिल नहीं होने दिया। वे अपनी करणी के प्रति सजग थे। प्रतिक्रमण हो या अन्य चर्या, उनमें वे चुस्त थे। सुस्ती उन्हें बर्दाश्त नहीं थी। वे दूरदर्शी थे संघ समुदाय के भविष्य को देखने वाले थे। वे मानते थे कि यदि सेनापति सुस्त हो गया तो सेना का चुस्त रह पाना कठिन है। उनके घुटनों में दर्द रहने लगा था, परन्तु इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। उस समय भी वे प्रतिक्रमण खड़े-खड़े-यानी विधिपूर्वक करते थे। खड़े रहने में कठिनाई होती थी तो डण्डे का सहारा भी लेना पड़ता था, किन्तु प्रतिक्रमण में प्रमाद नहीं होने देते थे। यह बात अलग है कि वे आचार्य पद पर अल्पसमय ही रहे, अल्प समय में भी उन्होंने सारणा-वारणा से संघ को प्रभावित किया। उनकी सोच एवं उनकी निर्णायक क्षमता भी बेजोड़ थी। जीवन की उस सान्ध्य बेला में एकदा रात्रि के समय स्वास्थ्य की स्थिति प्रतिकूल होने लगी। श्रावकों ने कहा “आपका स्वास्थ्य प्रतिकूल हो रहा है भन्ते! भविष्य के लिए आपका क्या चिन्तन है ?” उन्होंने तत्काल फरमाया पंडित रत्न श्री श्रीलाल जी म.सा. आचार्य पद के सर्वथा योग्य हैं। मेरे पश्चात उन्हें ही आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाय, वे संघ की समुचित सारणा-वारणा में समर्थ हैं। देखिये डिस्मिशन पावर, वृद्धावस्था में भी गंभीर निर्णय तत्काल ले लिया। यद्यपि निर्णय तत्काल था, पर इसके पीछे उनका दीर्घ अनुभव समन्वित था। उसी अनुभव के आधार पर तत्काल निर्णय दे दिया, क्योंकि संघ को बिना नायक के असहाय नहीं छोड़ा जा सकता।

जहाँ तक सुना गया है अविच्छिन्न रूप से परम्परा चलती रहे, इस कारण आचार्य को मृत भी तब घोषित किया जाता है, जब किसी

आचार्य की नियुक्ति कर दी जाती है। राजघरानों के विषय में भी प्रायः ऐसा ही सुना गया है। राजाओं के जमाने में जब तक दूसरे के सिर पर राजमुकुट रख नहीं दिया जाता था तब तक राजा के मृत्यु की घोषणा नहीं की जाती थी। ऐसा ही लगभग अभी भी सुना जा रहा है। अभी भी राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री की मृत्यु हो जाय तो कार्यवाहक के रूप में पहले राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री की नियुक्ति होती है तभी मृत राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री का दाह संस्कार किया जाता है। जब इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री पद पर थी तब उनके स्वर्गवासी हो जाने पर बी.बी.सी द्वारा घोषणा कर दी गई। किन्तु भारतीय एजेन्सियों ने सूचना जारी नहीं की। जब राजीव गाँधी पद पर आए तब भारतीय एजेन्सियों से सूचना जारी की। इसका क्या तात्पर्य है ? जैसे राष्ट्रीय धरातल पर देश को अनाथ नहीं छोड़ा जा सकता वैसे ही संघीय धरातल पर भी उसे अनाथ नहीं छोड़ा जा सकता।

आचार्य अपनी उपस्थिति में जिसे नियुक्त करे अथवा जिसका नाम निर्देशित करे, उसे ही उनके पश्चात आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। यदि वह अपनी उपस्थिति में नहीं कर पाये या कुछ ऐसी शारीरिक स्थिति बन जाय कि वह बोल नहीं पाये या लिख नहीं पाये और मृत्यु हो जाय तो बतलाया गया है कि चतुर्विध संघ योग्य आचार्य का निर्धारण करे। यदि योग्य न मिले तो एक बार किसी साधु को जो मौजूदा साधुओं में अधिक योग्य हो, उसे प्रतिष्ठित करे। वह व्यवस्था तात्कालिक (कार्यवाहक) रहती है। आचार्य श्री चौथमल जी म.सा. इन परिस्थितियों से सुविज्ञ थे उन्होंने अपनी उपस्थिति में ही रात्रि के समय नाम निर्देशित कर दिया था। बात सरल लगती है, लेकिन उसमें कठिनाई भी बहुत है। यह कठिनाई मन की होती है। मन स्थिर नहीं हो तो उलझनों में उलझता चला जाता है। जितना उलझता है उतना ही अनिर्णायक स्थिति पैदा कर देता है। जो साधना के लिए एवं संघ के लिए अनुकूल न होकर प्रतिकूल बन जाती है।

जो मन उलझनों में उलझता रहता है, वह प्रायः पग-पग पर ख्रेदित होता है। ऐसे ख्रेद को प्राप्त मन उलझनों को कैसे सुलझा पाएगा।

इसलिये संयम की आराधना के लिए मन की अवस्थाओं का सम्यक् बोध होना भी आवश्यक है। कभी-कभी हम देखते हैं, अनुभव भी करते हैं कि त्याग-प्रत्याख्यान लेते समय जो उल्लास होता है, कालान्तर में वह डाँवाडोल हो जाता है। सामाजिक जाजम पर जब कानून बनाये जाते हैं, तब तक वहाँ दृढ़ता रहती है किन्तु जब पालन करने का समय आता है तो बगले झाँकने लग जाते हैं।

अजमेर सम्मेलन के 19 वर्ष पश्चात सादड़ी मारवाड़ में साधु सम्मेलन हुआ। एक जाजम बिछी (यह अलंकारी भाषा है इसका मतलब है संत एक साथ बैठे) संतों में उत्साह था, नीति नियम बनें। समाचारी संविधान बना, किन्तु आचरण के समय वह उत्साह दृष्टिगत नहीं हुआ। भगवान महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के प्रसंग पर भी चारों सम्प्रदायों के कतिपय संत एक साथ बैठ, विचार विनिमय किया। पूरे जैन समाज की एक संवत्सरी हो, ऐसा निर्णय भी लिया गया, किन्तु जब अवसर आया तो निर्णय करने वाले ही एक नहीं रह पाये।

पूज्य आचार्य श्री नानालालजी म.सा. जब देवगढ़ विराज रहे थे उसी दौरान आचार्य श्री तुलसी का देवगढ़ पधारना हुआ। आचार्य श्री समता भवन पधार रहे थे, आचार्य श्री तुलसी भी घाटी वाले मार्ग से होते हुए उधर से पधारे। दोनों आचार्यों का आमना-सामना ही गया। इस संदर्भ को तेरापंथ की विज्ञप्ति में अन्य रूप से व्याख्यायित किया गया जो यथार्थ नहीं है। यह बात आचार्य श्री जी ने भीनासर में जब साध्वी प्रमुख उनके दर्शनार्थ आई थी, तब उनसे कही थी। उस समय भी अखबारों में अन्य रूप से ही प्रकाशित हुआ था जो कि औचित्यपूर्ण नहीं था। इस प्रकार झूठा इतिहास बनाने की मानसिकता जहाँ हो वहाँ क्या अपेक्षा की जा सकती है। आचार्य तुलसी ने कहा आपने बहुत बड़ी हिम्मत की संवत्सरी एकता की दिशा में। आचार्य देव ने उत्तर दिया- मैंने तो जो किया, वह किया पर, आप भी उदारता दिखायें। कहने का आशय मात्र इतना ही है कि जाजम पर कानून-कायदे बनाने में जो उत्साह होता है। वह पालन करने के समय ठण्डा हो जाता है।

संवत्सरी जैसे महापर्व के लिए भी जब हम एक नहीं हो सकते तो अन्य रूपों में एकता का आधार ही क्या है ? संवत्सरी में अड़चन चौथ और पंचमी या अधिक मास को लेकर है। ये कारण इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि संवत्सरी आदि के निर्धारण में लौकिक पंचांग को स्वीकार किया ही गया है। आंतरिक कारण मन की गुत्थियाँ हैं। यदि मन की गुत्थियाँ सुलझ जाए तो चौथ-पंचमी, ये कारण रह नहीं सकते। आचार्य देव का जलगांव में चातुर्मास हुआ। उस समय भारत जैन महामण्डल का शिष्यमण्डल आचार्य देव के चरणों में उपस्थित हुआ, कहने लगा- संवत्सरी के विषय में बहुत से संतों का सपोर्ट मिल गया है, पचपन प्रतिशत स्वीकृति हमें मिल गई है।” उस बहुमत के आधार पर हम संवत्सरी एकता की घोषणा करने वाले हैं। आचार्य देव ने कहा - बहुमत के आधार पर घोषणा उचित नहीं है। राजनीति के क्षेत्र में इस अल्प बहुमत का दण्ड आज राष्ट्र भुगत रहा है। किन्तु उनका जोश था और बाम्बे में एक विशेष सभा में घोषणा भी कर दी गई। पर फिर वही हुआ, ढाक के तीन पात। कोई अर्थ नहीं निकला। आचार्य देव ने स्पष्ट कहा था यदि पूरा जैन समाज एक दिन के लिए तैयार होता हो तो मैं तैयार हूँ। इस पर भी चर्चा हुई कि नियम मर्यादा कैसे रहेगी। आचार्य देव ने कहा था- नियम मर्यादा मैं भी जानता हूँ। समवायांग सूत्र के सत्तरवें समवाय में- एक माह 20 दिन बीतने पर एवं सत्तर रात्रि शेष रहने पर पर्युषण करने का पाठ आता है। वहाँ ऐसी बात नहीं है कि पर्युषण आठ दिन का मनाना। फिर भी मना ही रहे हैं।

आचार्य देव ने फरमाया- एक माह बीस दिन बीतने पर संवत्सरी करना और सत्तर दिन शेष रहे तब विहार करना, ऐसा कथन आता है। यह कथन चार माह का चातुर्मास हो तब तो ठीक है पर जब चातुर्मास पाँच महीने का हो जाय तब क्या करना ? इस विषय पर अजमेर सम्मेलन 1990 में भी चर्चा हुई थी, तब तो कुछ संतों द्वारा कहा गया था कि यह शास्त्रीय मत नहीं है। उस समय आचार्य जवाहर ने कहा था- यदि कोई यह कहे की हम शास्त्रीय धरातल से ही मना रहे हैं तो यह

कथन पूर्णतया सही नहीं है। यदि शास्त्रीय धरातल से ही मना रहे हैं तो क्यों निर्णय सागर पंचांग या अन्य लौकिक पंचांगों का सहारा लेते हैं ? जब लौकिक पंचांग के आधार पर हम निर्णय करते हैं तब यह एकान्त कथन नहीं कर सकते कि शास्त्रीय धरातल से ही मना रहे हैं। शास्त्रीय धरातल को व्यावहारिकता से जोड़ने का प्रयत्न जरूरी है और इस रूप में संवत्सरी की एकता बनती है तो कहाँ रूकावट है? चाहे दूसरा श्रावण हो या भादवा, हमें मिल-जुल कर एक दिन ऐसा कहकर आराधना करनी है तो क्यों रूकावट डाले। पर मन की गुत्थियाँ सुलझने नहीं देती ऐसा कहकर हम और उलझन भर देते हैं कि हम मनाते हैं वह शास्त्रीय धरातल से हैं अन्य जो मनाते हैं वह नहीं।

बंधुओं! मन की ये गुत्थियाँ कैसे कार्यरत होती हैं और कैसे-कैसे इनका स्वरूप बनता है। जब-तक यह जान न लें तब तक इनका विमोचन हो नहीं सकता। कभी रेशमी धागे में गाँठ पड़ जाए तो पहले देखना होता है कि गाँठ कैसे उलझी है। यदि देखे नहीं और रस्सी खींच दे तो वह नहीं खुलेगी। पहले देखेंगे तब सुलझा पायेंगे। नहीं तो गाँठ के इर्द-गिर्द कितना ही हाथ घुमा दो गाँठ सुलझेगी नहीं। पहले गाँठ का अन्वेषण करें, तभी खोलने में सक्षम हो पायेंगे। ऐसी ग्रन्थियाँ व्यक्ति जीवन व्यवहार में कितनी ही बना लेते हैं। कालांतर में वे ही उसकी चित्तवृत्तियाँ बन जाती हैं। जिनसे वह परेशान होता रहता है।

चित्तवृत्तियों को निर्मूल कैसे किया जाए, इस पर भिन्न-भिन्न आचार्यों के अपने-अपने अभिमत हैं। पंतजल योग दर्शन कहता है - **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।** चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है। आचार्य हेमचन्द्र के योगसूत्र के अनुसार- **योगःसंकलिष्टचित्तवृत्तिनिरोधः** संकलिष्ट चित्त का निरोध योग है। आचार्यदेव श्री नानालालजी म.सा. ने कहा- योगचित्तवृत्ति संशोधः चित्तवृत्तियों का संशोधन करो। पर संशोधन के पहले चित्तवृत्तियों को जानना आवश्यक होता है। जब-तक जानेंगे नहीं तब तक संशोधन होना कठिन है। बिना संशोधन के शांत-सुखी बन नहीं पाएंगे। संतोष भी प्राप्त नहीं कर पायेंगे। इसलिए पहले मन की

ग्रंथियों को जानने का प्रयत्न करें, लेकिन हम ग्रंथियों को जानने के बजाय नई ग्रंथियों को बनाते रहते हैं।

मगध सम्राट श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार के मन में एक गांठ पड़ गई- दीक्षा लेने से पहले मैं राजकुमार था, तब मेरा सम्मान था, अब मुझे ठोकरें खानी पड़ रही हैं इसी विचार से वे काफी गहरे ऊहापोह में चले गये। प्रसंग इस प्रकार है। मेघकुमार ने भगवान का उपदेश सुना और वैरागी बन गया। माता-पिता ने समझाया राजतर्र पर भी बैठा दिया, किन्तु उसके बावजूद वैराग्य का रंग पक्का रहा। राजा बना तो भी मन हिला नहीं और साधु बनने के बाद एक रात में हिल गया पहले नहीं हिला अब क्यों हिल गया ? इसका कारण मन की उड़ान है। मन सोचने लगा मैं घर में था, कितने नौकर मेरी हाजरी में रहते थे। यहाँ तो कोई पूछने वाला ही नहीं है बल्कि संत ठोकर लगाते हैं, आराम की नींद भी नहीं सो सकता। इस ग्रंथि ने इस स्थिति तक पहुँचा दिया कि सुबह सूर्योदय होते ही भगवान के चरणों में पहुँच गया। भगवान ने कहा मेघ ! प्रतिक्रमण करो, पीछे देखो। ”कई कथाकारों ने इसमें कल्पना का रंग भर दिया है कि मेघकुमार कहता, हे भगवान पीछे देखता हूँ तभी तो झंझट है, देख रहा हूँ सभी लोग मेरी जय-जयकार कर रहे हैं। माता लाड़ कर रही है। पीछे से तुलना करने में ही मामला गड़बड़ है। एक तरफ तो कहा गया है- साधु पीछे के भोगे गये भोगों को याद करें नहीं और दूसरी तरफ कहा जा रहा है- प्रतिक्रमण करो पीछे देखो। ज्ञाता धर्मकथा में जो इस कथा का मूल उद्गम है, उसमें इस प्रकार का कथन नहीं है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है उन सारी अवस्थाओं पर चिंतन करें, जिनसे दोष लगे हैं। जिनके कारण ग्रंथियाँ बनी हैं। उनका अवलोकन करो नहीं तो उनका विमोचन नहीं कर पाओगे। किन्तु भोगे हुए भोगों की ओर दृष्टि मत ले जाना, नहीं तो गाँठें बनती चली जाएंगी। भगवान ने कहा- मेघ, पीछे देखो। मेघ को जातिस्मरण ज्ञान हुआ, वे अपने पिछले भव देखने लगे- अनुकंपा से क्या मिला? सम्यक्त्वी हो गये। भव परंपरा का उच्छेद करके संसार परित कर लिया। अनुकंपा कैसा गुण है ? अभी

में दूसरी विवेचना नहीं कर रहा हूँ। कहने का मतलब है जो गाँठ मेघमुनि के बँधी थी भगवान ने उसका विमोचन करवा दिया। यदि विमोचन नहीं होता तो क्या मेघमुनि सही तरीके से संयम की आराधना कर पाते। चाहे साधु हो या श्रावक इन अवस्थाओं में ग्रंथि न हो, ऐसी बात नहीं है, अगर ग्रंथि पड़ गई तो साधु-श्रावक प्रतिक्रमण कर देखेंगे तो वे व्रत नियम का पालन कर पायेंगे।

कभी सम्प्रदाय का भाव भी ग्रंथि बन जाता है, लेकिन एक दृष्टि से सम्प्रदाय महत्वपूर्ण है। जैसे दूध के लिए कटोरा आवश्यक है वैसे ही साधना के लिए सम्प्रदाय। पर कटोरे को पकड़कर चलें तो काम नहीं होगा। कटोरा आधारभूत है वैसे ही सम्प्रदाय धर्म-क्रिया में सहायक है। उसकी पकड़ नहीं होनी चाहिए। पकड़ ही ग्रंथि है। यदि हमारी भावना निर्लेप अवस्था से चलने की है तो ग्रंथि-बंध नहीं होगा। जहाँ लेप लगता है वहाँ गाँठ मजबूत होती है। गाँठ पड़ी है और उस पर पानी पड़ जाय तो वह और मजबूत हो जाती है। इसलिए हम निर्लेप साधना करें। जो हमें वीतराग देवों ने बताई है, उसके अनुरूप प्रयत्न करें उसे प्रत्येक साधक साधने की कोशिश करें। यदि साधेगा तो वीतरागता की ओर कदम बढ़ा पायेगा। अन्यथा आग में ईंधन डालेंगे तो जैसे वह शमित नहीं होगी, वैसे ही मन को विषय देते रहेंगे तो वह काम करता रहेगा। अतः मन की अवस्थाओं को जानकर यदि ग्रंथि विमोचन का प्रयत्न करेंगे तो जीवन के नायक बन पायेंगे। नायक बनने के लिए सम्यक निर्णायक बुद्धि को भी हम अपने भीतर प्रकट करें, अन्यथा नायकत्व सार्थक नहीं हो पायेगा।

